उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–1 राज्य के सिद्धान्त

इकाई – 16 राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

इकाई – 17 कल्याणकारी राज्य

इकाई – 18 राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त

इकाई – 19 राज्य का अराजकतावादी दृष्टिकोण

खण्ड–2 jkT; dh fopkj/kkjkvk

इकाई – 20 सर्वाधिकारवाद

इकाई – 21 फासीवाद

इकाई – 22 साम्राज्यवाद

इकाई – 23 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद

[k.M&3 समाज और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप

इकाई–24 आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका

इकाई–25 राज्य और सामाजिक प्रक्रियाए

इकाई–26 राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–1

राज्य के सिद्धान्त

इकाई – 16	राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण	4
इकाई – 17	कल्याणकारी राज्य	21
इकाई – 18	राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त	39
इकाई – 19	राज्य का अराजकतावादी दृष्टिकोण	49

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

1. **प्रो. एल. आर. गुर्जर**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान
2. **डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय,** असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच
3. **डॉ के. डी. सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया
4. **डॉ नीलिमा सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
5. **डॉ एच. के. शर्मा**, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
6. **डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज
7. **डॉ ए. पी. सिंह**, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज
8. **डॉ मोहम्मद शाहिद**, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-ShareAlike 4.0 International License.

2020 (मुद्रित)

ISBN- 979-93-83328-35-2

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित – 2025

NFT-171

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0 लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड प्रयागराज

खण्ड–01 dk परिचय

खण्ड–05 'राज्य के सिद्धान्त' के अन्तर्गत

ईकाई–16 में आप व्यक्तिवादी सिद्धान्त के बारे में पढ़ेंगे। जिसमें उसके आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक दृष्टिकोणों तथा अहस्तक्षेप सिद्धान्त का अध्ययन कर सकेंगे।

ईकाई–17 में कल्याणकारी सिद्धान्त की चर्चा की गयी है। कल्याणकारी राज्य के उदय तथा उसके लक्षणों के बारे में बताते हुए इसकी समस्याओं एवं संभावनाओं की चर्चा की गई है।

ईकाई–18 में 'राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त' में मार्क्सवादी अवधारणा को बताते हुए उसके राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त तथा राज्य के विकासात्मक कार्यो का वर्णन किया गया है।

ईकाई–19 'राज्य का आराजकतावादी दृष्टिकोण' के अन्तर्गत अराजकतावाद के अर्थ एवं सिद्धान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर राज्यविहीन समाज की रुपरेखा का अध्ययन करेंगे।

इकाई 16

राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 व्यक्तिवाद का अर्थ एवं विकास

16.3 व्यक्तिवाद के समर्थक प्रमुख विचारक

16.3.1 जॉन लॉक के विचार

16.3.2 एडम स्मिथ के विचार

16.3.3 जरमी बेंथम के विचार

16.3.4 जॉन स्टुअर्ट मिल के विचार

16.3.5 हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार

16.4 व्यक्तिवाद के प्रमुख सिद्धान्त

16.5 व्यक्तिवाद के समर्थन के आधार

16.6 व्यक्तिवाद की आलोचना

16.7 आधुनिक व्यक्तिवाद

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 उपयोगी पुस्तकें

16.10 सम्बन्धित प्रश्न

16.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- ➢ व्यक्तिवाद का अर्थ एवं विकास को समझ सकेंगे।
- ➢ व्यक्तिवाद के आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक दृष्टिकोणों से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

- व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्तों को समझ सकेंगे और उनका विश्लेषण कर सकेंगे।
- व्यक्तिवाद और अहस्तक्षेप सिद्धान्त के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के विचारों को समझ सकेंगे।
- आधुनिक व्यक्तिवाद को समझकर प्रारम्भिक व्यक्तिवाद से उसके अन्तर को समझ सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

व्यक्ति व राज्य के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए? इस प्रश्न का राजनीति के विद्वानों ने विस्तृत विश्लेषण किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने इस विषय पर विचार किया कि राज्य साध्य है अथवा साधन। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उनके विचार उनके द्वारा राज्य के सम्बन्ध में प्रतिपादित विचारों को प्रभावित करते हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र क्या होना चाहिए यह उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में निहित है। राज्य को क्या–क्या कार्य करने चाहिए और किन कार्यों को नहीं करना चाहिए, व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं स्वतंत्रता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना उसे किन–किन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना चाहिए और किन क्षेत्रों में नहीं करना चाहिए आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों ने अलग–अलग विचार प्रस्तुत किये हैं और इसी आधार पर राज्य के महत्व को स्वीकार किया है। एक तरफ राजनीतिक विचारकों का ऐसा समूह है जो राज्य को समाप्त कर देना चाहता है और राज्य को अनावश्यक बताता है वहीं दूसरी ओर ऐसे विचारक हैं जो न केवल राज्य को बनाये रखना चाहते हैं बल्कि उसे अधिक से अधिक कार्य न करने का अधिकार प्रदान करते हैं। कुछ राजनीतिक विचारक राज्य के कार्यक्षेत्र को कम से कम रखना चाहते हैं ताकि व्यक्ति की स्वतंत्रता की अधिकतम सीमा तक रक्षा की जा सके। कुछ राजनीतिक विचारक व्यक्ति के अस्तित्व को राज्य के अस्तित्व में सम्मिलित करना चाहते हैं जिससे व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता लगभग समाप्त हो जाती है। इस प्रकार राज्य से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास होता है जो इस प्रकार हैं – अराजकतावाद राज्य को अनावश्यक बताता है तो फासीवाद राज्य के अस्मिता में ही व्यक्ति की अस्मिता को स्वीकारता है। इन विरोधी विचारधाराओं के मध्य व्यक्तिवादी विचारधारा है जो राज्य के कम से कम हस्तक्षेप को स्वीकार करता है और राज्य को आवश्यक बुराई भी कहता है। इस विचार के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र व्यक्ति की सुरक्षा तक सीमित है और इस सिद्धान्त को व्यक्तिवादी सिद्धान्त या अहस्तक्षेप का सिद्धान्त या नकारात्मक उदारवाद कहा जाता है। इस इकाई में हम राज्य के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

16.2 व्यक्तिवाद का अर्थ एवं विकास

राजनीति विज्ञान राज्य से सम्बन्धित है और राज्य में व्यक्ति निवास करते हैं। अतः राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों पर अनेक विचारधारा सामने आईं जिनमें व्यक्तिवाद भी एक है। राज्य का स्वरूप क्या हो तथा राज्य के क्या कार्य हैं, इस सम्बन्ध में व्यक्तिवाद एक महत्वपूर्ण विचारधारा है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति विचार का केन्द्र–बिन्दु है और इसका मानना है कि व्यक्ति, समाज और राज्य के लिए नहीं वरन समाज और राज्य व्यक्ति के लिए हैं। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक नकारात्मक एवं बाध्यकारी संस्था है जिसकी आज्ञाओं का पालन

अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। राज्य की आज्ञाओं का पालन करने से व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं का हनन होता है। जितना विस्तृत राज्य का कार्यक्षेत्र होगा उतनी ही मात्रा में व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध लगेगा। वहीं दूसरी ओर यदि राज्य के कानून और कार्य सीमित होंगे तो व्यक्ति के अधिकार व स्वतंत्रता अधिक होगी। परन्तु प्रत्येक समाज में हर प्रकार के लोग होते हैं – कुछ अच्छे तो कुछ बुरे। व्यक्तिवाद का मानना है कि समाज में इन बुरे या असामाजिक लोगों पर नियंत्रण करने हेतु कानून और दण्ड की आवश्यकता होती है जिससे समाज में शान्ति व्यवस्था बनी रहे और व्यक्ति के अधिकार व स्वतंत्रता को संरक्षण मिल सके। इसलिए राज्य आवश्यक है। अतः व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है।

व्यक्तिवाद का जन्म पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है जब पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलन ने मध्यकाल की परम्पराओं पर आघात करते हुए समस्त सामाजिक जीवन में परिवर्तन का बीजारोपण किया। मध्यकाल धर्म प्रधान युग था और इस युग में समस्त यूरोप एक ही संस्था के अधीन था, वह थी रोमन चर्च। धर्म का प्रभाव अत्यधिक होने के कारण मध्ययुग के पूर्वाद्ध में पवित्र रोमन साम्राज्य भी रोमन चर्च की तुलना में अधिक प्रभावी नहीं था। राजनीतिक जीवन का अस्तित्व न के बराबर था राज्य का स्थान भी चर्च ने ग्रहण कर लिया था। चर्च के प्रतिबन्धों ने अर्थ और व्यवसाय को धर्म और नैतिकता से मिश्रित कर दिया था। इस युग में व्यक्ति स्वयं को धर्म पर आश्रित कर मुक्ति का मार्ग प्राप्त करने का उद्देश्य रखता था अतः धार्मिक अन्धविश्वास के कारण उसकी विवेक एवं विवेचना शक्ति का पतन हुआ तथा इस युग में ज्ञान बड़ा संकुचित और स्थिर रहा। इस युग में समुदाय राजनीतिक इकाई माना जाता था और सामन्तवादी व्यवस्था का प्रचलन था। परन्तु 12वीं शताब्दी से ही पश्चिमी यूरोप में ऐसी शक्तियाँ उभरकर सामने आ गई थीं जिन्होंने मध्ययुग की व्यवस्था को चुनौती दी। धीरे–धीरे पोप की शक्तियों में कमी आई, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और यूरोप में पुनरोदय के परिणामस्वप व्यक्ति की विचारधारा ही परिवर्तित हो गई। व्यक्तिवादी विचारधारा का विकास सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के यूरोप के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का परिणाम है। इस काल का यूरोपीय समाज मुख्यतः कृषि प्रधान था जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था परन्तु बुद्धिवाद, मार्टिन लूथर के धर्म सुधार आन्दोलन तथा औद्योगिक क्रान्ति ने व्यक्ति को महत्व प्रदान करते हुए तत्कालीन विचारधारा में व्यापक परिवर्तन किए। बुद्धिवाद ने धर्म, आस्था एवं श्रद्धा जैसे भावों की आलोचना एवं विरोध किया वहीं मार्टिन लूथर के धर्मसुधार आन्दोलन ने लोगों को यह समझाया कि धर्मग्रन्थों का अर्थ उन्हें अपनी बुद्धि से समझना चाहिए न कि पोप की आज्ञानुसार। धार्मिक क्षेत्र में लूथर के विचारों ने व्यक्तिवाद की शुरूआत की और राजनीतिक व्यक्तिवाद सामाजिक समझौता सिद्धान्त के रूप में प्रस्फुटित हुआ। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को जन्म दिया। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व राज्य का व्यक्ति के कार्यों में पूर्ण हस्तक्षेप था और इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (Laisscyfaire) आया। राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप को अस्वीकार किया जाने लगा। जनता के जीवन में व्यापक परिवर्तन होने लगा। नये–नये आविष्कार हुए और वस्तुओं का उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होने लगा फलस्वरूप इन उत्पादों को बेचने के लिए नये–नये बाजारों की खोज और अधिकार प्रारम्भ हुआ। इन नवीन परिस्थितियों में व्यक्तियों ने अधिक से अधिक स्वतंत्र होकर कार्य करने की माँग की जिससे वे अपनी शक्तियों का उपयोग कर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकें। अठारहवीं सदी के व्यक्तिवाद का नारा था 'संसार जैसा चलता है चलने दो, उसके कार्यों में

हस्तक्षेप मत करो क्योंकि वह अपना नियंत्रण स्वयं कर लेता है' (Let things alone because the world is self-regulating)।

व्यक्तिवाद राज्य को आवश्यक बुराई मानता है। आवश्यक इसलिए कि व्यक्ति की स्वार्थपरता तथा असामाजिक कार्यों को नियंत्रित किया जा सके। व्यक्तिवाद का मानना है कि राज्य के कानून, नियमों एवं नियंत्रण के अभाव में समाज में शान्ति व व्यवस्था नहीं रहेगी। इसलिए राज्य को व्यक्ति की सुरक्षा पर पूरा ध्यान देना चाहिए परन्तु व्यक्ति का कल्याण राज्य के कार्यक्षेत्र के बाहर है। व्यक्तिवाद का मूल मंत्र है कि 'व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिले और राज्य कम से कम हस्तक्षेप करे।

16.3 व्यक्तिवाद के समर्थक प्रमुख विचारक

व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों में रिकार्डो, माल्थस, डी. टाकविले, बेन्थम, हम्बोल्ट, मिल, स्पेन्सर स्मिथ डोनिस्लेर्म और समनर के नाम प्रमुख हैं।

16.3.1 जॉन लॉक के विचार

व्यक्तिवाद की विचारधारा में कई अवस्थाएं देखने को मिलती हैं। इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने व्यक्तिवाद को सुदृढ़ किया और फ्रान्स में वही काम फ्रांसीसी क्रान्ति ने किया। दोनों ही देशों में मध्यम वर्ग ने सत्ता पर अधिकार किया। इंग्लैण्ड में जॉन लॉक ने अपने दर्शन द्वारा इसे समझाने का प्रयास किया और उसके विचार व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त बन गये। जॉन लॉक की पुस्तक 'टू ट्रीटाइजेज ऑन सिविल गवर्नमेन्ट (Two Treatises on Civil Government) में प्रतिपादित विचार लॉक को व्यक्तिवाद का समर्थक सिद्ध करते हैं। वॉहन (Vaughan) का कहना सत्य ही है कि 'लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के चारों तरफ चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता हर प्रकार से सुरक्षित रहे।' लॉक के विचारों में व्यक्तिवाद के समर्थन में प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं–

1. लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था, सभ्य समाज, समझौता, शासनतंत्र व राज्यक्रान्ति ये सभी विचार व्यक्ति का गौरव बढ़ाने वाली हैं। वह जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकार को जन्मसिद्ध, स्वाभाविक एवं प्राकृतिक मानते हुए सभी को समान रूप से प्रदान करता है।

2. वह व्यक्ति की नैतिक चेतना, न्याय व अन्याय की भावना आदि को प्रकृति प्रदत्त मानता है।

3. लॉक राज्य की उत्पत्ति को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा निमित्त मानता है और इसीलिए इन अधिकारों की रक्षा हेतु वह राज्य की सत्ता पर अनेक मर्यादाएं स्थापित करता है। शासक समाज के प्रतिनिधि मात्र हैं और वे केवल उतने ही अधिकार रखते हैं जितने उन्हें व्यक्तियों द्वारा प्रदान किये जाते हैं।

4. लॉक के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। पुनश्च यदि परिपक्व अवस्था प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा की

गयी व्यवस्था को स्वीकार करता रहे तभी यह समझना चाहिए कि उसने समझौते के प्रति अथवा राज्य का सदस्य होने के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है।

5. लॉक धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानता है और व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार पूजा एवं उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करता है। वह कहता है कि धर्म व्यक्तिगत नैतिकता का संबल है, विश्वास बुद्धि हृदय की पावनतम अनुभति है तथा व्यक्ति के सुख का सर्वाधिक महत्व है।

इस प्रकार लॉक के विचारों में व्यक्तिवाद को समर्थन मिला है। व्यक्ति और उसके अधिकार, व्यक्ति की स्वतंत्रता, समाज और राज्य, सीमित शासन और उसका कार्यक्षेत्र, सरकार का व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करना तथा व्यक्ति को क्रान्ति करने का अधिकार आगे चलकर व्यक्तिवाद के मूल तत्व बने।

16.3.2 एडम स्मिथ के विचार

अर्थशास्त्र के जन्मदाता और अठारहवीं शताब्दी के महान अर्थशास्त्री एडम स्मिथ में अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nations, 1776) में आर्थिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद का समर्थन करते हुए 'अहस्तक्षेप की नीति' का प्रतिपादन किया। एडम स्मिथ का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को, जब तक कि वह प्राकृतिक न्याय का उल्लंघन नहीं करता, अपना हित अपनी इच्छानुसार पूरा करने के लिए अकेला छोड़ देना चाहिए। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को अच्छी तरह से जानता है। अहस्तक्षेप नीति का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो वह अपनी क्षमता और अवसरों का अधिक से अधिक उपयोग करके अधिक से अधिक लाभ कमाने का प्रयास करेगा। इस प्रक्रिया में वह अपने हितों की पूर्ति करने के साथ ही साथ व्यापार व उत्पादन से समाज, सरकार व मजदूरों सभी को लाभ पहुँचाएगा। माँग और पूर्ति के नियमों से सभी लोगों को लाभ होगा। एडम स्मिथ ने उद्योग और व्यापार की स्वतंत्रता को प्राकृतिक स्वतंत्रता का नाम दिया है और राष्ट्रीय समृद्धि के लिए इसे आवश्यक माना है। उसका मानना था कि व्यापारी स्वयं अपने हित को जितनी अच्छी तरह से समझ सकता है, उतना सरकार नहीं समझ सकती अतः सरकार को उद्योग–व्यापार के मामले में अहस्तक्षेप की नीति का पालन करना चाहिए। एडम स्मिथ के अनुसार प्राकृतिक स्वतंत्रता के नियमों के अनुसार राज्य को केवल निम्न तीन कार्य करने चाहिए–

1. हिंसा और विदेशी आक्रमण से रक्षा करना,

2. समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले अन्याय व अत्याचार से बचाना

3. सामाजिक स्तर पर कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य करना जो कि व्यक्तिगत स्तर पर इसलिए नहीं किए जाते क्योंकि उनसे किसी व्यक्ति को कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता।

आर्थिक दृष्टि से व्यक्तिवाद का समर्थन करने वाले तथा समान विचार व्यक्त करने वाले अन्य विचारक मालथस, रिकार्डो, विलियम सीनियर आदि हैं।

16.3.3 जरमी बेंथम के विचार

इंग्लैण्ड के समाज–सुधारक, विधि–वेत्ता तथा राजनीतिक विद्वान बेंथम ने लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के काल्पनिक सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और व्यक्तिवाद का समर्थन किया। बेंथम ने सभी सामाजिक संस्थाओं–कानून, संविधान, धर्म को उपयोगिता के मापदण्ड की कसौटी पर मापने की माँग की। उपयोगिता से अभिप्राय 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' माना गया। बेंथम ने राज्य को व्यक्ति के सुख और आनन्द की वृद्धि के लिए निर्मित संस्था और समाज की अंतिम वास्तविकता व्यक्ति को माना है। बेंथम के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। उसके अनुसार व्यक्ति केवल अपने सुख और दुख के अनुसार शासित होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है अतः राज्य का कार्य कानून बनाना तथा लागू करना है। कानून का कार्य उन सभी बंधनों से मुक्ति दिलाना है जो व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक हैं। 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की गणना करते समय प्रत्येक व्यक्ति को एक इकाई मानने की बात कहकर बेंथम समानता के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है। उसने सरकार के केवल दो कार्य बताये हैं–सुरक्षा और उद्योग के लिए वे सभी स्वतंत्रताएँ जुटाना जिनकी आवश्यकता है। सुरक्षा के अन्तर्गत उसने नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता तथा व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा को सम्मिलित किया है। राष्ट्रीय धन की वृद्धि या जीवनयापन और आनंद के साधनों में वृद्धि की दृष्टि से राज्य के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को बेंथम ने स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार बेंथम ने अहस्तक्षेप की नीति और व्यक्तिवाद का समर्थन किया है।

16.3.4 जॉन स्टुअर्ट मिल

व्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति अपनी रचना 'स्वतंत्रता' (On Liberty) में की है। इस पुस्तक में मिल ने विचार अभिव्यक्ति और कार्य करने की स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन करते हुए उसे न केवल व्यवस्थापिका वरन् जनमत के दबाव से भी मुक्त रखने की बात कही है। मिल ने स्वतंत्रता का समर्थन दो दार्शनिक आधारों पर किया है – व्यक्ति की दृष्टि से तथा समाज की दृष्टि से। मिल का मानना था कि व्यक्ति का उद्देश्य अपनी शक्तियों का उच्चतम तथा सामंजस्यपूर्ण विकास करना है जो स्वतंत्रता के वातावरण में ही संभव है। दूसरा आधार समाज की प्रगति व विकास तभी संभव है जब सभी प्रकार के चिंतन तथा सभी प्रकार के व्यक्तियों को विकास का अवसर दिया जाए। मिल ने स्वतंत्रता के दो लक्षण किए हैं – पहला व्यक्ति का अपने ऊपर सर्वोच्च प्रभुता रखना अर्थात वह सर्वथा स्वतंत्र है वह जैसा चाहे जो चाहे काम कर सकता है, बशर्ते वह दूसरो को हानि न पहुचाए। दूसरा अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता है और इसे कुछ अधिक मात्रा में नियंत्रित किया जा सकता है। उसमें स्वतंत्रता के दो बड़े प्रकार माने हैं – (1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (2) कार्य करने की स्वतंत्रता। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर वह किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता और कार्य करने की स्वतंत्रता पर कुछ बंधन स्वीकार करता है। वह कार्य करने की स्वतंत्रता के दो प्रकार मानता है – स्व विषयक कार्य और पर विषयक कार्य। प्रथम प्रकार के कार्यों (स्व विषयक) पर समाज को व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं है परन्तु दूसरे प्रकार के कार्यों (पर विषयक) में जिनका प्रभाव कर्ता के अतिरिक्त दूसरों पर पड़ता है समाज को बलपूर्वक व्यक्ति को रोकने का अधिकार है। मिल

ने कार्यों की स्वतंत्रता को चरित्र निर्माण और सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बतलाया है। यद्यपि मिल की स्वतंत्रता की खोखली स्वतंत्रता के रूप में आलोचना की गयी है तथापि उसे पूर्णतया खोखला नहीं कहा जा सकता। मिल की स्वतंत्रता सिद्धान्त ने व्यक्तिवाद के विकास में सहयोग दिया। मिल ने एक ऐसे राज्य की कल्पना की जिसके नागरिकों को अपने व्यक्तित्व और अपनी विविधता पर गर्व हो और जो अपने तथा दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं।

16.3.5 हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार (1820–1903)

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने वैज्ञानिक विकासवाद की अवधारणा एवं अपने तर्कों के द्वारा व्यक्तिवाद का समर्थन किया। स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के नियमों को स्वीकार करके उन्हें राज्य पर लागू किया और इस आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यक्तियों को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। जीव विज्ञान के अनुसार अस्तित्व के लिए बराबर संघर्ष (Struggle for Existence) होता रहता है और इस संघर्ष में 'योग्यतम की विजय' (Survival of the Fittest) होती है। हर्बट स्पेन्सर इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहता है कि जीवन संघर्ष में जो समर्थ होंगे वे जीवित रहेंगे और दुर्बलों का स्वतः ही विनाश हो जायेगा। यह सिद्धान्त समाज में भी लागू होता है जिसके अनुसर योग्यतम व्यक्ति सफल होते हैं और अयोग्य, निर्धन अथवा दुर्बल व्यक्ति समाप्त हो जाते हैं अतः राज्य को केवल 'निषेधात्मक नियंत्रण' सम्बन्धी कार्य ही करने चाहिए। यदि राज्य निर्बल अक्षम व्यक्तियों के हितों की रक्षा करेगा तो यह विकास मार्ग में बाधा उत्पन्न करेगा। राज्य को लोक कल्याणकारी कार्य नहीं करने चाहिए। स्पेन्सर राज्य के कार्य को अधिकाधिक सीमित रखना चाहता है क्योंकि उसके अनुसार राज्य के कार्य और मानवीय स्वतंत्रता परस्पर विरोधी हैं। राज्य का कार्य नकारात्मक नियंत्रण कार्य, बाहरी एवं आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करना और अनुबन्धों को लागू करना मात्र है। स्पेन्सर राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को राज्य की उपेक्षा करने का, उसके साथ अपने सम्बन्ध त्याग देने का, उसकी रक्षा प्राप्त करने से इन्कार कर देने का और उसके द्वारा लादे गए भार को त्यागकर स्वेच्छापूर्वक न्याय के क्षेत्र से बाहर रहने का अधिकार प्रदान करता है। स्पेन्सर का मानना है कि राज्य मानवीय जीवन की पूर्णता का प्रतीक है और इसीलिए राज्य बुराई होते हुए भी विद्यमान है क्योंकि मानवीय जीवन में दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। जिस दिन मानव जीवन की ये दुष्प्रवृत्तियाँ समाप्त होंगी तभी राज्य का अन्त सम्भव हो सकेगा।

16.4 व्यक्तिवाद के प्रमुख सिद्धान्त

व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों के विचारों से स्पष्ट होता है कि इस राजनीतिक विचारधारा ने स्वतंत्रता को महत्व देते हुए निरंकुश शासन तंत्र का विरोध किया और व्यक्ति को महत्व प्रदान किया। व्यक्तिवाद के प्रमुख सिद्धान्त संक्षेप में निम्नानुसार हैं–

1. व्यक्तिवाद **राज्य को एक आवश्यक बुराई** मानता है। अराजकतावादियों की भाँति व्यक्तिवादी भी राज्य का विरोध करते हैं परन्तु अराजकतावादियों के समान उसको समूल रूप से नष्ट नहीं करना चाहते हैं। मानव स्वभाव में निहित दुष्प्रवृत्तियाँ– स्वार्थ, संघर्ष को नियंत्रित करने के लिए राज्य बुराई होते हुए भी आवश्यक है।

2. व्यक्तिवादी **राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य** मानते हैं। व्यक्ति के लिए राज्य है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए की है। व्यक्तिवादी राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र मानते हैं और व्यक्ति के सुख में ही राज्य का विकास निहित करते हैं। व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार राज्य भी अन्य संस्थाओं की भाँति मानवहित का साधन मात्र है।

3. व्यक्तिवादी **राज्य को केवल नकारात्मक कार्य करने** का अधिकार प्रदान करते हैं। इनके अनुसार राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्तियों की स्वतंत्रता का ह्यस होता है। व्यक्ति स्वयं अपने हित का सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है अतः राज्य को सकारात्मक कार्य के स्थान पर नकारात्मक कार्य ही करने चाहिए यथा वाह्य आक्रमण से रक्षा, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था, चोरी–डकैती से रक्षा तथा व्यक्तियों द्वारा किये गये वैधानिक समझौतों को लागू करना। इस प्रकार व्यक्तिवादी राज्य पुलिस राज्य है जो लोककल्याण के कार्य नहीं करता।

4. व्यक्तिवाद **व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता में विश्वास** करते हैं। व्यक्ति को न केवल राजनीतिक वरन् आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं ताकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास हो सके। आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं और स्वतंत्र प्रतियोगिता, समझौते की स्वतंत्रता तथा बाजार में माँग और पूर्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

16.5 व्यक्तिवाद के समर्थन का आधार

इस इकाई के अंश 16.3 में आपने विभिन्न विचारकों के विचारों का अध्ययन किया। सभी ने व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन किया है। व्यक्तिवादी विचारकों ने इस विचारधारा का समर्थन अनेक आधारों पर किया है जो संक्षेप में निम्नानुसार है–

1. **नैतिकता के आधार पर** व्यक्तिवाद का समर्थन करने वालों में मिल का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। मिल नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से राज्य द्वारा व्यक्ति के मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करने की बात करता है। मिल के अनुसार आवश्यकता से अधिक शासन व्यक्ति को अपनी इच्छा तथा विवेक से कार्य करने की क्षमता तथा शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास को रोक देता है अतः मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य के अधिकारों को सीमित करने का समर्थन किया है। उसने सरकार के हस्तक्षेप को एक हद तक उचित माना है परन्तु उससे आगे बढ़ने पर व्यक्तियों की हानि होती है। अतिशासन में व्यक्ति सरकार पर निर्भर हो जाता है और आलसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अतिशासन न केवल स्वावलम्बन की शक्ति को हानि पहुँचाता है वरन् वह समाज को आलसी बना देता है। मिल के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करने से मनुष्य का चरित्र समुन्नत होता है और मानवता की प्रगति होती है। राज्य द्वारा लिया गया कार्य व्यक्ति के आत्म विश्वास के भाव को समाप्त कर देता है। उसके उत्तरदायित्व को दुर्बल बनाता है और चरित्र को कुण्ठित कर देता है।

2. व्यक्तिवाद का **आर्थिक आधार पर** समर्थन करने वालों में एडम स्मिथ और माल्थस आदि विचारक प्रमुख हैं। व्यक्तिवाद के आर्थिक आधार पर समर्थक विचारकों का कहना था कि प्रकृति के शाश्वत नियमों की भाँति अर्थशास्त्र के भी कुछ सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनशील नियम होते हैं यदि इन नियमों में हस्तक्षेप किया जाय तो यह व्यक्ति के लिए हानिकारक होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित अथवा हानि–लाभ को भलीभाँति जानता है अतः व्यक्ति को पूर्णतः स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। सभी वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्ति के स्वाभाविक नियमानुसार होती है वैसा ही सत्य मजदूरी और वेतन के लिए लागू होता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता द्वारा व्यक्ति अपना लाभ उठा सकता है अतः इस क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि राज्य अहस्तक्षेप नीति (Laissez-faire) नीति का पालन करे तो स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा से उद्योग–धन्धे पल्लवित पुष्पित होंगे, उत्पादन में वृद्धि होगी, पूंजीपतियों को लाभ मिलेगा दूसरी ओर श्रमिकों की आय में भी वृद्धि सहित आयात एवं निर्यात में भी वृद्धि होगी। अतः वेतन, मूल्यों, ब्याज, किराया, मजदूरी आदि को राज्य द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाना चाहिए ताकि वे स्वयं को विद्यमान सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल समायोजित कर सकें।

3. डार्विन के सिद्धान्त 'जीवन संघर्ष' और 'योग्यतम की विजय' को आदर्श मानकर व्यक्तिवाद को **वैज्ञानिक आधार** प्रदान किया गया है और इसके समर्थकों में हर्बर्ट स्पेन्सर का नाम सर्वप्रमुख है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के नियमों को राज्य पर लागू करते हुए व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देने का समर्थन किया। उसके अनुसार जीवन संघर्ष में जो योग्य होंगे, समर्थ होंगे वे जीवित रह सकेंगे और निर्बल गरीब और अयोग्य व्यक्तियों का अन्त हो जायेगा। उसके अनुसार मानव जाति को सबल समर्थ और क्रियाशील बनाने हेतु इसी नियम को मनुष्यों पर भी लागू करना चाहिए। अतः राज्य को केवल नियंत्रण करने वाले नकारात्मक कार्य करना चाहिए जैसे बाहरी एवं आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करना और अनुबन्ध लागू करना। समाज के दुर्बल व्यक्तियों की उन्नति हेतु कार्य को, लोककल्याणकारी कार्य को राज्य को नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना प्रकृति की व्यवस्था में हस्तक्षेप करना होगा।

4. **व्यावहारिकता के आधार** पर व्यक्तिवाद का समर्थन करने वालों का मानना है कि राज्य के पास सभी प्रकार के कार्यों को करने की क्षमता नहीं है और अन्ततः ये व्यक्तियों के द्वारा ही किये जाते हैं। व्यक्ति व्यक्तिगत कार्यों में जितनी रुचि लेता है उतनी राजकीय कार्यों में नहीं लेता है। राज्य अधिक से अधिक कार्य करने की होड़ में प्रायः बहुत से जरूरी कार्य नहीं कर पाता या कुछ ऐसे कार्य कर देता है, जिसकी आवश्यकता ही नहीं थी। इस कारण कार्यों में विलम्ब के साथ–साथ अपव्यय भी होता है। ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा व्यक्तिवादी यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि राज्य ने जब–जब सामाजिक व राजनीतिक कार्यों में हस्तक्षेप किया अथवा वस्तुओं के मूल्यों एवं मजदूरी को निर्धारित करने का प्रयास किया, उसे असफलता ही अधिक मिली है। अतः राज्य को स्वयं को नकारात्मक कार्यों तक सीमित कर अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

16.6 व्यक्तिवाद की आलोचना

व्यक्तिवादियों द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं राज्य के अहस्तक्षेप के सिद्धान्त को आधुनिक समय में पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए विभिन्न विचारकों ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। व्यक्तिवाद की आलोचना निम्नानुसार है–

1. व्यक्तिवादी राज्य को 'एक आवश्यक बुराई' मानते हैं जबकि आलोचकों का मानना है कि राज्य सकारात्मक भलाई का साधन है जिसका मुख्य कार्य जनता का कल्याण करना है। आधुनिक राज्य तो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास, सामाजिक कल्याण तथा विकास के अनेक कार्य करते हैं। मानव जीवन और सभ्यता के विकास में राज्य का बहुत योगदान है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य की सत्ता एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। यदि राज्य एक बुराई होता तो यह बहुत पहले ही समाप्त हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इतिहास के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि सभ्यता की प्रगति अधिकांशतः राज्य द्वारा बुद्धिमत्तापूर्ण निर्देशित कार्यों के आधार पर हुई है।

2. व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों और व्यक्ति की स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी मानते हैं, यह सत्य नहीं है। बन्धनों का अभाव या नकारात्म्क स्वतंत्रता संभव नहीं है। वास्तव में स्वतंत्रता सकारात्मक होती है अर्थात करने योग्य एवं वांछित कार्यों को करने का अधिकार स्वतंत्रता है। राज्य द्वारा नियमित कानून व बंधन व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षा प्रदान करते हैं अन्यथा बन्धन रही स्वतंत्रता उच्श्रृंखलता में परिवर्तित हो जाती है। राज्य द्वारा किये गये कार्य या हस्तक्षेप स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है परन्तु समाप्त नहीं और हो सकता है कि स्वतंत्रता पर ऐसा बन्धन एक पक्ष की दृष्टि में हस्तक्षेप लगता हो परन्तु दूसरे पक्ष की दृष्टि से स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान करता हो। उदाहरण के लिए उद्योग धन्धों पर लगाये प्रतिबन्ध पूंजीपतियों की स्वतंत्रता को सीमित कर सकते हैं परन्तु इससे श्रमिकों की स्वतंत्रता सुनिश्चित होती है। राज्य द्वारा व्यक्ति के कल्याण हेतु किये गये कार्य उसकी स्वतंत्रता के मार्ग की बाधा नहीं वरन् उसकी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए उसे व्यक्तित्व के सर्वोत्तम विकास का अवसर प्रदान करती है।

3. व्यक्तिवादी यह मानते हैं कि व्यक्ति मूलतः स्वार्थी होता है और वह सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक होता है। आलोचक इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते उनका कहना है कि हर व्यक्ति में स्वार्थ एवं परमार्थ की भावना अलग–अलग मात्रा में पायी जाती है। अतः सभी मनुष्यों को पूर्णतः स्वार्थी कहना उचित नहीं है और इस आधार पर राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में समूचा सिद्धान्त बनाना उचित नहीं है। व्यक्तिगत कल्याण व पारस्परिक कल्याण में विरोध नहीं हैं। दूसरा आलोचकों का कहना है कि व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता। आज के जटिल समाज में व्यक्ति की विषम समस्याओं का समाधान राज्य के द्वारा ही सम्भव है यह सही हो सकता है कि व्यक्ति अपने वर्तमान हितों को भली भाँति समझता है परन्तु आवश्यक नहीं कि अपने भावी हितों को भी समझता हो और वह हित सिद्धि के साधनों का भी ज्ञाता हो। गार्नर का कहना है कि हर देश में ऐसे बुद्धिहीन मनुष्य होते हैं जो अज्ञात संकटों के प्रति सावधानी नहीं बरत सकते। कभी–कभी राज्य व्यक्ति की मानसिक, नैतिक और शारीरिक आवश्यकताओं का उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पारखी होता है। व्यक्ति

को अपने हित साधन की पूर्ण स्वतंत्रता तभी लाभप्रद है जब तक व्यक्तियों के हित एक दूसरे के विपरीत न हों परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है अतः हितों के विरोध से उत्पन्न संघर्ष को समाप्त करने और व्यक्ति की व्यक्तिगत दुर्बलता का कोई लाभ न उठा पाये, इस हेतु राज्य की शक्ति की जरूरत होती है।

4. व्यक्तिवादी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा जीव विज्ञान के नियम –'जीवन के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम की विजय' को मानवीय समाज पर लागू करना उचित नहीं है। इस सिद्धान्त को लागू करने का अर्थ है कि जितने दुर्बल, अक्षम लोग हैं उन्हें किसी प्रकार का सहयोग व सहायता न देना अर्थात इस वर्ग का विनाश और शक्तिशाली और सक्षम लोगों की अतिजीविता। परन्तु वर्तमान कल्याणकारी राज्य के युग में इसे कोई स्वीकार नहीं करेगा कि अक्षम एवं दुर्बल व्यक्तियों को जीवन संघर्ष के लिए छोड़ दिया जाय और योग्यतम की विजय के सिद्धान्त को अपनाया जाय। 'योग्यतम' शब्द ही एक सापेक्षिक शब्द है। आज जो वस्तु योग्य एवं उपयुक्त है वह कल अयोग्य व अनुपयुक्त हो सकती है। योग्यतम व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ हो यह भी जरूरी नहीं। लीकॉक ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'यदि योग्यतम की प्रमुख परीक्षा अतिजीविता के तथ्य में निहित है तब तो सेंध लगाकर चोरी करने वाला समृद्ध व्यक्ति प्रशंसा का पात्र बन जाता है और भूख से मरने वाला शिल्पकार घृणा का'। आलोचकों का कहना है कि स्पेन्सर ने पशु जगत और मानव जगत को एक ही नियमों से शासित करने की भूल की है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है और अपनी उच्चतर बुद्धि बल से अनेक कार्य सम्पादित करता है और इसी के द्वारा थोड़े से लोगों को जीवित रहने का अवसर न देकर अपने बुद्धि बल से अधिक से अधिक लोगों को जीवित रहने का का मौका प्रदान कर सकता है।

5. व्यक्तिवाद के आर्थिक दृष्टिकोण एवं अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए आलोचकों का कहना है कि इससे सम्पत्ति एवं धन के केन्द्रण को प्रोत्साहन मिलेगा। स्वतंत्र प्रतियोगिता से पूंजीपति और अधिक धनवान होंगे और श्रमिक, मजदूर वर्ग इस प्रतियोगिता में पिछड़ते चले जायेंगे तथा समाज में असमानता उत्पन्न होगी। समाज में असमानता स्वतंत्रता के विरुद्ध होगी अतः यह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्ति स्वतंत्र प्रतियोगिता से उत्पादन में वृद्धि होती है जिसके लिए नये–नये बाजारों और व्यापार केन्द्रों की खोज होती है तथा साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिलता है। इंग्लैण्ड की व्यक्तिवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ। ऐतिहासिक उदाहरण भी हैं जब राज्य को व्यापार नियंत्रण का कार्य करना पड़ा जिससे श्रमिकों की स्थिति में सुधार किया जा सके। इंग्लैण्ड में अहस्तक्षेप की नीति को अस्वीकार कर हस्तक्षेप सिद्धान्त को अपनाया गया और श्रमिकों के हित संवर्धन हेतु नियमों को पारित किया गया।

6. व्यक्तिवादियों की समाज सम्बन्धी अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण है। व्यक्ति के स्वतंत्र हित को प्रधानता देते हुए व्यक्तिवाद ने समाज की उपेक्षा की है। समाज को केवल व्यक्तियों का समूह मानना उचित नहीं है। व्यक्तियों के हित सदैव समाज हित का निर्माण नहीं करते वरन् कभी–कभी व्यक्ति के हित समाज के हित के विरुद्ध होते हैं और सामूहिक हित की रक्षा हेतु व्यक्तिगत हितों पर राज्य द्वारा नियंत्रण आवश्यक हो जाता है। समाज से

पृथक व्यक्ति के पूर्णतया स्वतंत्रत व्यक्तित्व विकास की कल्पना अतार्किक है।

7. व्यक्तिवाद के समर्थक 'माँग और पूर्ति के सिद्धान्त' को अपने तर्क का आधार मानते हैं परन्तु अर्थशास्त्रियों ने ही इसे पूर्णतया वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् औद्योगिक एवं आर्थिक जटिलताओं एवं नियमों ने राज्य के हस्तक्षेप को अपरिहार्य कर दिया है। स्वतंत्र व्यापार से एकाधिकार उत्पन्न हुआ और ट्रस्ट आदि की स्थापना हुई जिसे नियंत्रित करना राज्य के लिए आवश्यक था। बदली हुई परिस्थितियों में राज्य के हस्तक्षेप एवं मनुष्यों के परस्पर सहयोग ने इस सिद्धान्त को अव्यवहारिक सिद्ध कर दिया।

16.7 आधुनिक व्यक्तिवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवाद अर्थात् मुक्त मानव और अहस्तक्षेप का सिद्धान्त अपने चरम पर था परन्तु बीसवीं शताब्दी में इसका पतन हो गया। व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रत्ययवादी राज्य दर्शन और समष्टिवादी सिद्धान्त उभर कर सामने आये और उनके चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर पुनः प्रतिक्रिया हुई और उसे ही आधुनिक व्यक्तिवाद का नाम दिया गया। प्रो0 जोड के अनुसार 'परन्तु व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने बदले में एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। चक्र पूरी तरह घूम गया है तथा राज्य के प्रति वर्तमान असन्तोष ने व्यक्तिवादी चिंतन को पुनः जीवित होने की प्रेरणा दी है जो रूप में तो नहीं तथापि भावना में उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद जैसा है।'

आधुनिक व्यक्तिवाद व्यक्ति के स्थान पर व्यक्तियों के समुदाय तथा संगठनों को अधिक महत्व देता है। आधुनिक व्यक्तिवादियों का मानना है कि व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताएँ एवं हित हैं जिन्हें वह स्वयं पूरा नहीं कर पाता है और वह विभिन्न समुदायों एवं समूहों का सदस्य बनता है। अतः राज्य में समूह एवं समुदायों का महत्व है। इन समुदायों एवं समूहों के महत्व में वृद्धि ने राज्य को भी अन्य संघों के समान श्रेणी में खड़ा कर दिया है। आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास में संसदीय प्रजातंत्र या बहुमत पर आधारित शासन प्रणाली का विशेष योगदान रहा है। युद्ध एवं उससे उत्पन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप लोकतंत्र एवं संसदीय शासन व्यवस्था से लोगों को यह आभास हुआ कि बहुमत के शासन की आड़ में शासन की निरंकुशता बढ़ने लगती है और व्यक्तियों की स्वतंत्रता का हनन होता है अतः अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा और बहुमत की तानाशाही को नियंत्रित करने हेतु राज्य की शक्तियों पर नियंत्रण एवं शक्तियों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास में प्रथम विश्व युद्ध ने भी बड़ा योगदान दिया। विश्व युद्ध में लोगों ने अपना सर्वस्व त्याग कर युद्ध में भाग लिया परन्तु उसका परिणाम भीषण रक्तपात व नरसंहार के रूप में सामने आया और लोग राज्य की उपयोगिता को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। हिंसा का कारण राज्य की सर्वोच्चता एवं निरंकुशता है अतः इसे नियंत्रित करने के विचार का उदय हुआ जो आधुनिक व्यक्तिवाद के रूप में सामने आया।

आधुनिक व्यक्तिवाद उन सभी विचारधाराओं का विरोध करता है जो राज्यों को शक्तिशाली मानती है। यह राज्य को न तो दैवी संगठन के रूप में देखता है जैसा हीगल व उसके अनुयायियों का विचार था न यह राज्य को सर्वशक्तिशाली अनियंत्रित सत्ता ही मानता है। यह आधुनिक शक्ति केन्द्र राज्य को स्वतंत्रता का

शत्रु मानता है। यह राज्य को न तो नैतिक आधारों पर तिरस्कार और न ही आर्थिक आधारों पर संघों के अन्य रूपों के अधीन बनाये जाने का पक्षधर है। आधुनिक व्यक्तिवाद समुदाय के महत्व को स्वीकार करता है। इनका मानना है कि मानव जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले संघों यथा मजदूर संघ, विद्यालय, चर्च तथा अन्य संघ आदि का राज्य की भाँति अपना व्यक्तित्व है जिसकी उत्पत्ति उनके सदस्यों की सहमतिपूर्ण इच्छा से होती है तथा उसी के अनुरूप ये संघ अपने सदस्यों की निष्ठा तथा सेवा को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। समुदायों को महत्वपूर्ण मानते हुए भी आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य को महत्व प्रदान करते हुए इसे 'समुदायों का समुदाय' अथवा 'संघों का संघ' मानता है जो विभिन्न समुदायों के परस्पर विरोधी हितों एवं उससे उत्पन्न संघर्ष को समायोजित करने और क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करता है। राज्य को स्वतः व्यक्ति की किसी भी नयी विचित्र आवश्यकता के प्रति अनुक्रिया करना है जो संगठन के किसी अन्य रूप द्वारा संतुष्ट नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रारम्भिक व्यक्तिवाद की इकाई व्यक्ति था जबकि आधुनिक व्यक्तिवाद की समुदाय। आधुनिक व्यक्तिवाद बहुलवाद और श्रेणीमूलक समाजवाद के अधिक निकट है। प्राचीन व्यक्तिवाद जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा हेतु राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहता था वहीं आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य की शक्तियों को विकेन्द्रित कर उन्हें समुदायों को सौंपता है। आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रवर्तकों में सर नार्मन ऐंजिल, ग्राहम वालास, बेलॉक तथा मिस फॉलेट प्रमुख हैं।

नार्मन एजिल ने अपने विचारों में अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति तथा सुरक्षा की दृष्टि से राज्य की शक्ति के केन्द्रीयकरण का विरोध किया है। अपनी पुस्तक 'दी ग्रेट इल्यूजन' (The Great Illusion) में कहा है कि मनुष्य आर्थिक हितों को प्रमुखता देते हुए सामान्यतः वही कार्य करते हैं, जिनमें उन्हें सर्वाधिक लाभ होता है। अतः व्यक्ति स्वयं को आर्थिक संघ का सदस्य समझे जिसकी विशेषता शान्ति है न कि ऐसे सीमित राजनीतिक संघ या समाज की जिसकी विशेषता युद्ध है। उसका मानना था कि व्यक्ति अवश्य ही इस तथ्य को समझते हुए राष्ट्रीय संघों के स्थान पर आर्थिक संघों की स्थापना करेगा। उसके अनुसार राज्य 'प्रशासकीय यंत्र' है और यदि इससे श्रेष्ठ यंत्र का निर्माण हो जाता है तो इसे समाप्त किया जा सकता है। राष्ट्रीय राज्य आर्थिक आधार पर निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय संघ में समय अपने पर परिवर्तित हो सकता है। **ग्राह्म वालास** ने राज्य की शक्ति के केन्द्रीयकरण का विरोध करते हुए शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बात कही है। अपनी पुस्तक 'महान समाज' (The Great Society) में उसने प्रचलित प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संसद के गठन का विरोध करते हुए व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है। उसका कहना था कि मतदाता मिथ्या प्रचार और छलावे में आकर अयोग्य उम्मीदवार को निर्वाचित कर देते हैं। अतएव व्यवसाय और वृत्ति के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों का गठन और विशेष कार्यों के लिए निर्मित लोक संस्थाओं के निर्वाचन तथा शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बात कही। **हिलेयर बेलॉक** ने श्रेणी समाजवादियों की भाँति शक्तियों के केन्द्रीयकरण एवं अनियंत्रित राज्य का विरोध किया है। अपनी पुस्तक 'दास राज्य' (The Servile State) में बेलॉक ने श्रमिक संघों एवं उत्पादक एवं उपभोक्ताओं की समितियों को महत्व देते हुए शक्ति के विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है। **मिस फॉलेट** ने भी अपनी पुस्तक 'नवीन राज्य (New State) में व्यक्ति समूहों के संगठन को लोकतांत्रिक समस्याओं के निदान एवं व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्ति का आधार बताया है। व्यक्ति समूहों को महत्व देते हुए भी मिस फॉलेट व्यक्ति व राज्य को महत्व देती हैं और इनकी

उपेक्षा का विरोध करती हैं। उनके अनुसार व्यक्ति, समूह तथा राज्य सभी के अपने–अपने कार्यक्षेत्र हैं तथा अपना–अपना महत्व है। समाज का आधारभूत तत्व 'मैं तथा अन्य' न होकर 'मैं अन्यों में तथा उनके द्वारा हूँ' है अतः समूह संगठन ही राजनीति की नवीन पद्धति होनी चाहिए क्योंकि इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य की बढ़ती हुई भूमिका के विरुद्ध नहीं है वरन् वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को राज्य की असीमित शक्ति के हनन से बचाना चाहता है। इसके विचारों को राजनीतिक उदारवाद, राजनीतिक बहुलवाद तथा श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्तों में स्वीकृति मिल चुकी है तथा सकारात्मक उदारवाद ने इसे अंगीकृत कर लिया है।

16.8 सारांश

व्यक्ति व राज्य के मध्य सम्बन्धों अथवा राज्य के कार्यक्षेत्र को लेकर राजनीति विज्ञान में अनेक विचारों का प्रतिपादन किया गया है और व्यक्तिवादी विचारधारा उन्हीं में से एक है जो राज्य को कम से कम अधिकार क्षेत्र प्रदान करना चाहती है जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा हो सके परन्तु साथ ही साथ राज्य के अस्तित्व को भी स्वीकार करती है जिससे व्यक्ति की सुरक्षा हो सके। अतः व्यक्तिवाद राज्य को आवश्यक बुराई मानता है। व्यक्तिवाद, व्यक्ति केन्द्रित अवधारणा है जो व्यक्ति को साध्य एवं राज्य को साधन मानता है। इसका विकास का प्रारम्भ पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है। सत्रहवीं एवं अट्ठाहरवीं शताब्दी के यूरोप के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों ने इसे गति प्रदान की। पुनर्जागरण, धर्मसुधार आन्दोलन एवं औद्योगिक क्रान्ति ने व्यक्तियों की विचारधारा में व्यापक परिवर्तन किया। मार्टिन लूथर किंग ने धार्मिक क्षेत्र में, सामाजिक समझौते ने राजनीतिक तथा औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को जन्म दिया तथा अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (Laissey Faire) आया। व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों में प्रमुख रूप से जॉन लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल, एडम स्मिथ, जरमी बेंथम एवं हर्बर्ट स्पेन्सर का नाम सामने आता है। लॉक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त बने तो जॉन स्टुअर्ट मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया। मिल ने विचार अभिव्यक्ति की असीमित एवं कार्य करने की स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबन्ध स्वीकार किये। एडम स्मिथ ने आर्थिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद का समर्थन किया और अहस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादन किया। जरमी बेंथम ने उपयोगिता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और व्यक्ति को साध्य मानते हुए व्यक्ति को अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक माना। स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के 'जीवन के लिए संघर्ष' एवं 'योग्यतम की विजय' सिद्धान्त को मूल आधार मानकर व्यक्तिवाद का समर्थन किया। इस प्रकार अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों के अनुसार व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त है राज्य एक आवश्यक बुराई है, व्यक्ति साध्य एवं राज्य साधन है अतः राज्य के नकारात्मक कार्य होने चाहिए जिससे व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। विचारकों ने व्यक्तिवाद के समर्थन में नैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिकता के तर्क प्रस्तुत किये हैं। परन्तु फिर भी व्यक्तिवाद के आलोचकों का मानना है कि राज्य एक आवश्यक बुराई नहीं वरन् सकारात्मक भलाई है तथा राज्य के कार्यों और व्यक्ति की स्वतंत्रता परस्पर विरोधी नहीं है। व्यक्ति अपने हित का स्वयं सर्वश्रेष्ठ निर्णायक नहीं होता है तथा जीव विज्ञान के प्राणियों पर लागू नियमों को व्यक्तियों पर समान रूप से लागू करना उचित नहीं है। व्यक्तिवाद के आर्थिक दृष्टिकोण की

आलोचना करते हुए आलोचकों का मानना है कि इससे जन व सम्पत्ति का केन्द्रण होगा व वास्तविक रूप से व्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन होगा। व्यक्तिवादियों द्वारा व्यक्ति को महत्व व समाज की उपेक्षा करना भी उचित नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद के पश्चात् प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप 20वीं शताब्दी में पुनः व्यक्तिवादी विचारों को प्रधानता मिली जिसे आधुनिक व्यक्तिवाद कहा गया। आधुनिक व्यक्तिवादी विचारकों में ग्राह्म वालास, नार्मन एन्जिल, बेलॉक एवं मिस फॉलेट के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक व्यक्तिवाद व्यक्ति की तुलना में व्यक्ति समूह को महत्व देता है तथा बहुमत के निरंकुश शासन के स्थान पर अल्पसंख्यकों के हित संरक्षण हेतु व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है। आधुनिक व्यक्तिवाद समुदायों में शक्ति विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है और यह बहुलवाद और श्रेणीमूलक समाजवाद से साम्यता रखता है।

16.9 शब्दावली

गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688) – इंग्लैण्ड की महत्वपूर्ण घटना जब राजा जेम्स द्वितीय को अपदस्थ कर उसकी पुत्री मेरी तथा मेरी के पति विलियम ऑफ ऑरेंज का राज्याभिषेक किया गया था और राजमुकुट (Crown) की शक्तियाँ बहुत सीमित कर दी गई थीं। इस प्रकार बिना रक्तपात के इंग्लैण्ड में असीमित राजतंत्र के स्थान पर संवैधानिक राजतंत्र स्थापित हो गया।

धर्म सुधार आन्दोलन – इस आन्दोलन का नेतृत्व जर्मनी के मार्टिन लूथर किंग ने किया। इस आंदोलन ने कैथोलिक चर्च के अनन्य अधिकार को चुनौती दी तथा दावा किया कि ईश्वर का भक्त धर्मग्रन्थों की सहायता से ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है और कैथोलिक चर्च को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं है। इससे व्यक्ति की विवेकशक्ति में लोगों का विश्वास दृढ़ हुआ और व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला।

औद्योगिक क्रान्ति – आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तनों का सूचक जिसमें नये–नये यंत्रों और उपकरणों के अविष्कार ने उत्पादन प्रणाली की कृषि प्रधान व्यवस्था से उद्योग व्यवस्था में बदल दिया।

16.10 उपयोगी पुस्तकें

1. अम्बादत्त पंत, मदन गोपाल गुप्ता, हरिमोहन जैन (2004), राजनीति शास्त्र के आधार, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद – संशोधित संस्करण।
2. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
3. ए0डी0 आर्शीवादम्, कृष्णकान्त मिश्रा (2001), राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली।
4. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
5. C.E.M. Joad - (1987) Introduction to Modern Political Theory, Oxford University Press, New Delhi

16.10 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) व्यक्तिवाद का अर्थ एवं उसके सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

   (ब) व्यक्तिवाद के समर्थन के आधारों का वर्णन करते हुए व्यक्तिवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

   (स) आधुनिक व्यक्तिवाद पर लेख लिखिए।

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) व्यक्तिवादी विचारक जॉन लॉक के विचारों का वर्णन कीजिए।

   (ब) एडम स्मिथ के आर्थिक व्यक्तिवाद का वर्णन कीजिए।

   (स) स्पेन्सर के वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तिवाद का विश्लेषण कीजिए।

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

   (अ) निम्न से कौन महान व्यक्तिवादी विचारक है?

   (v) कार्ल मार्क्स

   (vi) लेनिन

   (vii) लॉक

   (viii) ऐंजिल्स

   (ब) वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तिवाद का किसने समर्थन किया?

   (v) स्पेन्सर

   (vi) लॉक

   (vii) लास्की

   (viii) लेनिन

   (स) व्यक्तिवाद किस अन्य रूप में भी जाना जाता है –

   (v) समाजवाद

   (vi) अहस्तक्षेप सिद्धान्त

   (vii) अराजकतावाद

   (viii) साम्यवाद

   (द) व्यक्तिवादी राज्य को मानते हैं –

   (v) एक वर्ग समाज

   (vi) राज्य विहीन समाज

   (vii) असीमित शक्ति वाला राज्य

   (viii) निम्नतम कार्यों वाला राज्य

(य) 'पुलिस राज्य' की धारणा का समर्थन किसने किया?

(v) व्यक्तिवाद

(vi) आदर्शवाद

(vii) फासीवाद

(viii) साम्यवाद

(र) 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(v) मिल

(vi) बेन्थम

(vii) एडम स्थिम

(viii) मार्क्स

16.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 16.2 एवं 16.4 अंश

(ब) देखिए इकाई का 16.5 एवं 16.6 अंश

(स) देखिए इकाई का 16.7 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 16.3.1 अंश

(ब) देखिए इकाई का 16.3.2 अंश

(स) देखिए इकाई का 16.3.5 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iii)

(ब) (i)

(स) (ii)

(द) (iv)

(य) (i)

(र) (iii)

इकाई 17

कल्याणकारी राज्य

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा

17.3 कल्याणकारी राज्य की विशेषताएं

17.4 कल्याणकारी राज्य का इतिहास एवं विकास

17.5 विकासशील देश और कल्याणकारी राज्य

17.6 भारत में कल्याणकारी राज्य

17.7 कल्याणकारी राज्य के कार्य

17.8 कल्याणकारी राज्य की आलोचना

17.9 लोक कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ

17.10 कल्याणीकारी राज्य की सफलता के उपाय

17.11 सारांश

17.12 शब्दावली

17.13 उपयोगी पुस्तकें

17.14 सम्बन्धित प्रश्न

17.15 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

राज्य का कल्याणकारी सिद्धान्त, व्यक्तिवादी तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त के मध्य का सिद्धान्त है। इस इकाई का अध्ययन करके आप :

- कल्याणकारी राज्य का अर्थ समझ सकेंगे।
- कल्याणकारी राज्य के उदय, विकास एवं विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- कल्याणकारी राज्य के कार्य और आलोचना को समझ सकेंगे।
- भारत में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

हम सभी जानते हैं कि आधुनिक प्रजातांत्रिक देशों में अधिकांश 'कल्याणकारी राज्य' हैं। 20वीं शताब्दी में कल्याणकारी राज्यो की स्थापना विकास का महत्वपूर्ण परिचायक है। लोक कल्याणकारी राज्यों में सरकार के कार्य व भूमिका विस्तृत एवं विविधितापूर्ण होती है। आधुनिक समय में सरकार के कार्य और उत्तरदायित्व असीमित हो गये हैं, पूर्व में (19वीं शताब्दी के अन्त तक) राज्य की अवधारणा 'पुलिस राज्य' के रूप में थी अर्थात् सरकार को जनता के लिए शान्ति एवं सुरक्षा के कार्य करने थे और यही राज्य के प्राथमिक कार्य माने गये। कल्याण के कार्य व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों पर छोड़ दिये गये। परन्तु प्रजातंत्र ने सरकार के कार्यों और भूमिका को परिवर्तित कर दिया है। आज लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने प्रजातंत्र के कार्य को पुर्नपरिभाषित कर दिया है।

इस इकाई में हम लोक कल्याणकारी राज्य के अर्थ, विकास एवं कार्यों का विवेचन करेंगे।

17.2 कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा

कल्याणकारी राज्य वह राज्य व सरकार है जो कल्याण से या जनता की कुशलता से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में यह वह सरकार है जो जनता के कल्याण को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानती है। एक कल्याणकारी राज्य नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक हित और कल्याण की जिम्मेदारी का निवर्हन करता है। कल्याणकारी कार्य लाभ प्रदान करके अथवा अन्य विभिन्न उपायों द्वारा जनता हेतु किये जाते हैं। यह धन अथवा सेवाओं के रूप में हो सकते हैं। नगद भुगतान, सब्सिडी, छूट, अनुदान और सार्वजनिक वितरण कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत आते है। ये सभी कल्याणकारी उपाय सरकारी, राजस्व का जरूरतमन्दों हेतु पुर्नवितरण के रूप में आते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक संघ है जिसका लक्ष्य नागरिक जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा समृद्ध बनाना है।

कल्याणकारी राज्य में बीमार, निर्धन, असहाय, बेरोजगार और समान समूह के लोगों की देखभाल की जाती है। आर्थिक असमानता को दूर करके नागरिकों में औचित्यपूर्ण समानता स्थापित करना कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य है और सम्मानजनक न्यूनतम जीवन निर्वाह की परिस्थितियाँ उत्पन्न करना लोककल्याणकारी राज्य का दायित्व है। शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा, सामाजिक बीमा, घर, प्रौढ़ावस्था पेंशन, चिकित्सा सुविधा लोककल्याणकारी राज्यों की जिम्मेदारी बन चुकी है। यहाँ तब कि वे बेरोजगार लोगों को बेराजगारी भत्ता भी प्रदान करते हैं। आज के युग में लोक कल्याणकारी सिद्धान्त विभिन्न राज्यों में प्रतिष्ठा का सूचक हो गया है और इसे अंगीकृत करने के लिए राज्यों में प्रतिस्पर्द्धा हो रही है। यह अपने नागरिकों के मानसिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक एवं अन्य पहलुओं को विकसित करने का कार्य करता है। यह अनावश्यक रूप से व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता है और केवल वहीं हस्तक्षेप करता है जहाँ तक स्वतंत्रता की रक्षा और जीवन समृद्धिशाली हो।

लोक कल्याणकारी राज्य की विविध परिभाषायें दी गयी हैं।

1918 में प्रकाशित 'सामाजिक विज्ञानों के शब्दकोष (Encyclopaedia of Social Sciences) में लोक कल्याणकारी राज्य को ऐसा राज्य बताया गया है जो अपने सभी

नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है। डॉ0 अब्राहम ने कल्याणकारी राज्य की आर्थिक दृष्टिकोण से परिभाषा इस प्रकार की है – 'वह लोकसमाज जहाँ राज्य–शक्ति का उपयोग जानबूझ कर देश के सामान्य आर्थिक प्रवाहों को इस प्रकार मोड़ने में किया जाता है कि हर व्यक्ति को आय का अधिक समान अंश मिले और उसकी आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हों, उसके कार्य और सम्पत्ति का मूल्य बाजार में कुछ भी हो।' इस संकुचित परिभाषा की तुलना में अधिक व्यापक परिभाषा टी. डब्ल्यू. केंट ने दी है। उनके अनुसार कल्याणकारी राज्य 'वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए दूरगामी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है।' हॉबमैन ने कल्याणकारी राज्य को दो अतियों – साम्यवाद और शुद्ध व्यक्तिवाद में समझौता माना है। गार्नर के अनुसार कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक, बौद्धिक तथा नैथ्तक स्तर को विकसित करना है। हॉढसन ने कहा कि राज्य एक डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा–कम्पनी के एजेन्ट, मकान बनाने वाला, नगर योजना तैयार करने वाला तथा रेलवे नियंत्रक आदि हो गया है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार 'लोक कल्याणकारी राज्य का मूल आधार समान अवसर की व्यवस्था, गरीब और अमीर का भेद दूर करना तथा जीवन स्तर उठाना है।' श्री वेंकटगिरि के अनुसार 'कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो स्वयं को केवल पुलिस कार्यों को सम्पादित करने तक सीमित नहीं रखता वरन् उत्तरदायित्वों का विस्तृत दृष्टिकोण वहन करता है और उन सभी गतिविधियों को करता है जो सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए अपेक्षित और आवश्यक हैं तथा जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य में राज्य द्वारा व्यक्तियों को दी जाने वाली सहायता दया या सद्भावनावश नहीं वरन् व्यक्ति अधिकार के रूप में होती है। एक कल्याणकारी राज्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहता है। सभी को इस सिद्धान्त – 'प्रत्येक सभी के लिए, सभी प्रत्येक के लिए' पर विश्वास कर व्यक्ति को कार्य करना चाहिए, इसकी प्रेरणा देता है। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि वह समाज का हिस्सा है और यह उसका कर्तव्य है कि वह सभी के लिए यथासम्भव अच्छा करे और केवल अपनी भलाई तक सीमित नहीं रहे।

17.3 कल्याणकारी राज्य की विशेषताएं

(1) कल्याणकारी राज्य सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य में अर्थव्यवस्था मिश्रित होती है यद्यपि पूंजीवादी व्यवस्था के लक्षण भी दिखाई देते हैं, पूंजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था के लक्षणों के उपरान्त भी सरकार आर्थिक गतिविधियों और जनता के सामाजिक कल्याण के कार्यों पर प्रभावी नियंत्रण रखता है।

(2) कल्याणकारी राज्य प्रकृति के समाजवादी है। यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित है और सभी को समान अवसर प्रदान करने हेतु तत्पर रहता है। यह सम्पत्ति के औचित्यपूर्ण वितरण को प्रभावी करने का लक्ष्य रखता है।

(3) यह सभी आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखता है। कल्याणकारी राज्यों में सभी निजी उद्यम सरकार द्वारा नियंत्रित होते हैं।

(4) यह नागरिकों को मूलभूत सुविधाएं प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति को सेवा और सुविधा प्रदान करना इसका कर्तव्य है। कल्याणकारी राज्य आर्थिक और सामाजिक सेवाएं प्रदान करने हेतु तत्पर रहता है जैसे सामान्य शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक यातायात, गृह तथा जनता को अन्य आर्थिक सहायता।

(5) यह विविध उद्यमों को चलाता है, औद्योगिक उद्यमों का स्वामित्व और संचालन, व्यापार और अन्य व्यावसायिक गतिविधियाँ भी लोक कल्याणकारी सरकारों द्वारा सम्पादित की जाती हैं।

(6) यह सभी को न्याय प्राप्ति सुनिश्चित करता है। कल्याणकारी राज्य में सामान्य व्यक्ति को अपनी विविध आवश्यकताओं हेतु अधिकारियों से सम्पर्क करना पड़ता है। उदाहरण के लिए प्रशासनिक अधिकारी, नियंत्रक अधिकारी, अनुमोदन अधिकारी, सामाजिक सेवा के अधिकारी, सार्वजनिक उद्यमों के कार्यकारी आदि। इन सभी सम्पर्कों एवं सम्बन्धों में कल्याणकारी राज्य का दायित्व है कि वह न्याय को सुनिश्चित एवं व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

(7) नियोजन सम्बन्धी कार्य – आर्थिक गतिविधियों में उत्पादन व वितरण सम्मिलित है। कल्याणकारी राज्य का दायित्व है कि वे राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण करे और संतुलित रूप में प्रत्येक आर्थिक गतिविधि की योजना बनायें। औद्योगिक नीति, व्यापार नीति, व्यावसायिक एवं बैंकिंग नीति का निर्माण इन गतिविधियों को नियंत्रित करने हेतु किया जाता है।

(8) कल्याणकारी राज्य का यह दायित्व है कि वह आर्थिक गतिविधियों में संलिप्त सभी निजी उद्यमों को व्यवस्थित और नियंत्रित करे। ऐसे नियंत्रणों में पंजीकरण, लाइसेन्स प्रदान करना और करारोण आदि सम्मिलित है।

(9) श्रमिकों का कल्याण भी कल्याणकारी राज्य के कर्तव्यों की परिधि में आता है। वे श्रमिकों का शोषण रोकने हेतु विधि निर्माण करने लिए बाध्य है। उनकी सुरक्षा एवं कल्याण सुनिश्चित करने के लिए बाध्य है। कल्याणकारी राज्य औद्योगिक उक्रमों, कारखानों, कम्पनियों और अन्य सेक्टरों में कार्यरत लोगों की सुरक्षा एवं कल्याण सुनिश्चित करने का कार्य भी करता हैं।

(10) कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता पर बल देता है और उसे समाज में सम्मानजनक जीवन व्यतीत करने में सहायता देता है। सामाजिक और आर्थिक स्तर का भेद किए बिना यह सभी व्यक्तियों को समान समझता है।

(11) कल्याणकारी राज्य प्रगतिशील उपायों को लागू करना चाहता है जैसे भूमि सुधार, कृषि विकास, मूल्य नियंत्रण, आवश्यक वस्तुओं की सार्वजनिक वितरण प्रणाली, स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई, संचार आदि के प्रावधान।

(12) कल्याणकारी राज्य जनता की भलाई के लिए विस्तृत क्षेत्र में सामाजिक सेवाएं संचालित करता है। इसमें सम्मिलित कुछ उपाय हैं – छुआछूत हटाना, दहेज, बाल विवाह आदि। यह निरक्षरता, निर्धनता और बेरोजगारी दूर करने के उपाय करता है। यह स्कूलों, अस्पतालों और जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य संस्थाओं की स्थापना करता है। यह बेरोजगारी भत्ता, मातृत्व लाभ, वृद्धावस्था एवं अन्य लाभ प्रदान करता है।

17.4 कल्याणकारी राज्य का इतिहास और विकास

इतिहासकार राबर्ट पैक्सटन का कहना है कि कल्याणकारी राज्य प्रारम्भिक रूप में रूढ़िवादियों द्वारा स्थापित किये गये और सामान्यतः समाजवादियों और श्रमिक संघों द्वारा इनका विरोध किया गया। समाजवादियों और श्रमिक संघों द्वारा प्रारम्भ में विरोध का आधार यह था कि यह धारणा उन्हें उनके लक्ष्य से पृथक कर देगी। राबर्ट पैक्सटन ने 1880 में जर्मन चान्सलर बिस्मार्क द्वारा जर्मनी में स्थापित कल्याणकारी राज्य का उदाहरण दिया और यही बात कुछ सालों पश्चात् टैफे ने आस्ट्रो–हंगरी साम्राज्य के विषय में कही। ब्रिटेन में कल्याणकारी राज्य की स्थापना 1910 में उदारवादी दल के डेविड लायड जार्ज द्वारा स्थापित की गई। यद्यपि यह सत्य है कि फ्रान्स में कल्याणकारी राज्य की स्थापना समाजवादी राजनीति के विकास के साथ हुआ परन्तु पैक्सटन का मानना है कि इसका विकास 1940 के दशक में विन्सी साम्राज्य के समय में भी कुछ मात्रा में हुआ था। पैक्सटन ने कहा कि बीसवीं शताब्दी की सभी आधुनिक यूरोपीय तानाशाही–फासीवादी और सर्वसत्तावादी कल्याणकारी राज्य थे.......इन सभी ने स्वास्थ्य सुविधा, पेंशन, सस्ते गृह, जनपरिवहन की व्यवस्था की थी इस उद्‌देश्य से कि उत्पादकता, राष्ट्रीय एकीकरण और सामाजिक शान्ति बनी रहे। प्रमुख देशों में कल्याणकारी राज्य का उदय अलग–अलग समयों में हुआ है।

जर्मनी के प्रथम चान्सलर बिस्मार्क ने आधुनिक कल्याणकारी राज्य की स्थापना प्रशा और सैक्सन राज्यों में कल्याणकारी कार्यक्रमों की शुरूआत करके की। 1840 के दशक में प्रारम्भ कार्यक्रमों को उद्योगों का समर्थन मिला। बिस्मार्क ने वृद्धावस्था पेंशन, दुर्घटना बीमा और स्वास्थ्य सुविधा का प्रारम्भ किया जो आधुनिक यूरोपीय कल्याणकारी राज्य का आधार बना। उसके द्वारा शुरू किये गये कार्यक्रमों को जर्मनी के उद्योग धन्धों का समर्थन मिला क्योंकि इसका उद्‌देश्य जर्मन साम्राज्य को कामकाजी वर्ग का समर्थन प्राप्त करना था और संयुक्त राज्य में अप्रवासियों की संख्या को कम करना था। संयुक्त राज्य अमेरिका में पारिश्रमिक दरें तो ज्यादा थीं परन्तु लोककल्याणकारी कार्य अस्तित्व में नहीं थे। बिस्मार्क ने कालान्तर में उद्योगों और प्रशिक्षित कर्मचारियों का उच्च सीमा शुल्क नीतियों पर समर्थन प्राप्त किया। यह अमरीकी प्रतियोगिता से लाभ और श्रम मूल्यों से सुरक्षित करता था। यद्यपि इससे मुक्त व्यापार समर्थक उदारवादी बुद्धिजीवी अलग हो गये थे। जर्मनी में कल्याणकारी राज्य 'समाज राज्य' के विचार पर आधारित थी और कभी–कभी इसे 'सामाजिक बाजार अर्थव्यवस्था' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यहाँ तीन सिद्धान्त प्रचलित थे प्रथम सामाजिक कल्याण प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ तरीका आर्थिक विकास है। सामाजिक सेवाओं के ढ़ाचें में इसको प्राथमिकता मिलनी चाहिए। दूसरा सिद्धानत जर्मनी की अर्थव्यवस्था और कल्याणकारी व्यवस्था का विकास निगमों के आधार पर हुआ है जिसका प्रारम्भ बिस्मार्क ने किया था और तीसरा सिद्धान्त पूरक सिद्धान्त है। इसके अनुसार जर्मनी में सेवाओं का विकेन्द्रीकरण अथवा स्वतंत्र प्रबन्धन होना चाहिए और राज्य के हस्तक्षेप का स्तर अवशेष सिद्धान्त होने पर होना चाहिए, यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

इंग्लैण्ड में कल्याणकारी राज्य का विचार महारानी ऐलिजाबेथ प्रथम के काल में देखा जा सकता है जब ब्रिटिश संसद ने प्रथम निर्धन कानून अधिनियम पारित किया जिसमें शारीरिक रूप से सक्षम भिखारियों के लिए कार्यगृहों तथा अक्षम के लिए सहायता कार्य का प्रावधान किया गया था। कानून के उपबन्ध लागू हुए या नहीं यह देखने के लिए निर्धनों के संरक्षकों की नियुक्ति की गयी।

आधुनिक कल्याणकारी राज्य के रूप में यूनाईटेड किंगडम का उद्भव उदारवादी कल्याणकारी सुधारों (1906–1914) के साथ हुआ जिसका श्रेय उदारवादी प्रधानमंत्री हरबर्ट एसम्थि को जाता है। इन सुधारों में वृद्धावस्था पेंशन अधिनियम (1908) का पारित होना, 1909 में स्कूलों में मुफ्त भोजन का प्रारम्भ, और 1909 का श्रमिक विनिमय अधिनियम तथा आर्थिक विकास में राज्य के व्यापक हस्तक्षेप की अनुमति देने वाला विकास अधिनियम 1909, राष्ट्रीय बीमा अधिनियम 1911 सम्मिलित थे। इंग्लैण्ड में दिसम्बर 1942 में प्रकाशित बेवरिज रिपोर्ट ने निर्धन या सहायता की प्रतीक्षा में लोगों हेतु अनेक उपाय सुझाये। बेवरिज ने सरकार को पाँच दानवों – दरिद्रता, बीमारी, अज्ञानता, मलिनता और बेकारी को दूर करने हेतु सरकार को प्रयास करने हेतु सुझाव दिये। इन समस्याओं को दूर करने के लिए उन्होंने सरकार द्वारा लोगों को पर्याप्त आय उपलब्ध कराने, पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधा, पर्याप्त शिक्षक, पर्याप्त आवास और पर्याप्त रोजगार उपलब्ध कराये जाने का सुझाव दिया। 1945 में आम चुनावों में मजदूर दल की विजय के पश्चात् बेवरिज के सुधार विविध अधिनियमों – राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, राष्ट्रीय सहायता अधिनियम, राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम द्वारा लागू किये गये। बीसवीं शताब्दी के अन्त में कल्याणकारी व्यवस्था को पुर्नव्यवस्थित किया गया और कुछ कार्य गैर–सरकारी संगठनों द्वारा किये जाने लगे जो सामाजिक सेवाओं के महत्वपूर्ण प्रदाता बन गये हैं। ए. ब्रिग्स ने ब्रिटेन के कल्याणकारी राज्य के विषय में तीन मुख्य तत्वों का उल्लेख किया है – न्यूनतम आय सहित न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी, दुर्घटना के समय सामाजिक संरक्षण और यथा संभव श्रेष्ठ सेवाओं का प्रावधान।

फ्रान्स के नैपोलियन तृतीय ने सामाजिक हित सम्बन्धी ऐसे अनेक कार्यों का सम्पादन किया जिससे फ्रांस में भी लोग कल्याण की भावना का विकास हुआ। नैपालियन तृतीय ने अपने देश के नागरिकों को खुश करने के लिए सार्वजनिक अधिकार, मजदूर संघ, मजदूरी में वृद्धि और गृह एवं राज्य सहायता प्राप्त बीमा योजना के सिद्धान्तों को कार्यरूप दिया। इन सारे कार्यों से लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में काफी सहायता मिली।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कल्याणकारी शब्द बहुत लोकप्रिय नहीं है क्योंकि लोग व्यक्तिगत उपक्रमों का समर्थन करते हैं और राज्य के विभिन्न क्षेत्रों पर नियंत्रण को अस्वीकृत करते हैं। राष्ट्रपति हूवर के अनुसार कल्याणकारी राज्य 'सामूहिकतावाद' की ओर वापस जाने वाला मार्ग है जो संयुक्त राज्य में अत्यधिक अलोकप्रिय है। राष्ट्रपति रुजवेल्ट का न्यूडील और राष्ट्रपति ट्रूमैन का 'फेयरडील' को समाजवाद की ओर अग्रसर कदम के रूप में वर्णित किया गया है। सीनेटर टैफ्ट का मानना है कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा संयुक्त राज्य को दिवालिया कर देगी। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्व राज्य सचिव डब्ल्यू. जे. ब्रायन्स ने कल्याणकारी राज्य के विरुद्ध चेतावनी दी है। अमेरिकी नागरिक नौकरशाही से भयभीत हैं। वे स्वयं सहायता पर विश्वास करते हैं और ऐसी प्रत्येक वस्तु का विरोध करते हैं जो इस गुण को नष्ट कर दे। इस सब के उपरान्त भी राष्ट्रपति ट्रू मैन ने दस सूत्रीय कार्यक्रम दिया जिसमें मूल्य समर्थन, प्रतिघंटा 75 सेन्ट न्यूनतम पारिश्रमिक, प्राकृतिक संसाधनों का विकास, चिकित्सा सुविधा, शिक्षा को अनुदान और बीमारी, वृद्धावस्था, दुर्घटना तथा बेरोजगारी के विरुद्ध बीमा सम्मिलित है। सामाजिक सुरक्षा योजना इतनी विस्तृत है कि इसमें उच्च श्रेणी कर्मचारी, विश्वविद्यालय शिक्षक और स्वव्यवसायी व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। आज वहाँ सामाजिक सुरक्षा तथा निःशुल्क शिक्षा आदि की व्यवस्था की गयी है।

समाजवादी राज्य भी कल्याणकारी राज्य है परन्तु उनका कल्याणकारी कार्य नियोजित और ऊपर से निर्देशित होता है। नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण की तुलना में भौतिक कल्याण पर अधिक जोर दिया जाता है।

सउदी अरब, ब्रुनेई, कुवैत, कतर, बहरीन, ओमान और यूनाइटेड अरब अमीरात अपने नागरिकों के लिए कल्याणकारी राज्य बन गये हैं। वहाँ सभी विदेशी नागरिक जिसमें वैध निवासी और वैध दीर्घ अवधि कर्मचारी भी सम्मिलित हैं उन्हें कल्याणकारी राज्य द्वारा प्रदत्त लाभ प्राप्ति की मनाही है।

इस्पिंग–एण्डरसन ने अपनी पुस्तक 'दि थ्री वर्ल्डस ऑफ वेल्फेयर कैपिटलिज्म' (1990) में तीन प्रकार के कल्याणकारी राज्यों का वर्गीकरण किया है। यद्यपि इसकी आलोचना की गयी है परन्तु ये वर्गीकरण सामान्य रूप से आधुनिक कल्याणकारी राज्यों के प्रकारों का विश्लेषण करने में सर्वाधिक प्रयुक्त होते हैं :

1. आदर्श सामाजिक–प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य जो सावभौमिकतावाद के सिद्धान्त पर आधारित हैं और नागरिकता के आधार पर सेवाएं और सुविधाएं प्रदान करते हैं। इस प्रकार के कल्याणकारी राज्य उच्च स्तर की स्वायत्ता प्रदान करते हैं और परिवार बाजार पर निर्भरता को सीमित करते हैं। इस सन्दर्भ में सामाजिक नीतियाँ 'बाजार विरुद्ध राजनीति' के रूप में देखी जाती हैं।

2. ईसाई–प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य अवशेष अधिकारों के सिद्धान्त तथा सामाजिक बीमा योजनाओं की प्रधानता पर आधारित है।

3. उदारवादी व्यवस्था बाजार की प्रधानता और निजी प्रावधानों पर आधारित है। आदर्श रूप में राज्य केवल निर्धनता दूर करने और मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हस्तक्षेप करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न राष्ट्रों में 'कल्याणकारी राज्य' का अर्थ भिन्न–भिन्न रूपों एक आदर्श मॉडल, राज्य द्वारा कल्याण कार्य और सामाजिक संरक्षण के रूप में लिया जाता है।

1. एक आदर्श मॉडल अर्थात् राज्य अपने नागरिकों के व्यापक एवं सार्वभौमिक कल्याण के लिए प्रावधान करने का उत्तरदायित्व लेता है।

2. राज्य कल्याण अर्थात् राज्य द्वारा उपलब्ध कल्याण, कल्याण कार्य के रूप में लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रमुख रूप से इसका प्रचलन है।

3. सामाजिक संरक्षण–कुछ कल्याणकारी राज्यों विशेष रूप से पश्चिमी यूरोप और स्कैण्डेवेनिया में सामाजिक संरक्षण न केवल राज्य द्वारा बल्कि सरकारों के सम्मिश्रण, स्वतंत्रता, स्वैच्छिक और स्वायत्तशासी लोकसेवाओं द्वारा प्रदान किया जाता है। ये देश सामान्यतः कल्याणकारी राज्य के रूप में देखे जाते हैं।

भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के विकास ने राष्ट्रों की कल्याणकारी नीतियों पर प्रभाव डाला है। राष्ट्र राज्य की धारणा निरर्थक हो रही है और राष्ट्र की शक्तियाँ स्थानीय स्तर, स्वतंत्र संगठनों और राष्ट्रेत्तर संगठनों जैसे नाफ्टा और यूरोपीय संघ में निहित होती जा रही हैं। भूमण्डलीकरण ने राष्ट्र राज्यों की सामाजिक संरक्षण की क्षमता को सीमित कर दिया है। भूमण्डलीय प्रवाह ने सशक्त नव उदारवादी विचारधारा को प्रश्रय देकर असमानता को प्रोत्साहित किया है। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विकासशील देशों के लिए एक

विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक नीति संचालित कर रहे हैं वहीं पूर्वी यूरोप के देश सीमित सरकारी व्यय, चयनित सामाजिक सेवाओं और निजी प्रावधानों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं।

17.5 विकासशील देश और कल्याणकारी राज्य

विकासशील देशों की केन्द्रीय समस्या गरीबी है। विश्व बैंक के अनुसार विश्व की आधी जनसंख्या 2 डॉलर प्रतिदिन पर जीवन निर्वाह करती रही है, यह वाक्य है लेकिन यह स्पष्ट करता है कि औपचारिक अर्थव्यवस्था के बहुत से लोग भाग नहीं हैं। अर्मत्य सेन के अनुसार गरीबी इसीलिए नहीं बढ़ती क्योंकि संसाधनों का अभाव है बल्कि अधिकार देने के अभाव में, भुखमरी होता है इसलिए नहीं कि पर्याप्त भोजन नहीं है वरन् इसलिए कि उपलब्ध भोजन गरीबों को खाने की अनुमति नहीं दी जाती।

आर्थिक विकास कल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक है। यह भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करता है, एकीकरण और पारस्परिक निर्भरता को बढ़ावा देता है और लोगों के अधिकार क्षेत्र का विस्तार करता है। यह स्पष्ट रूप से सामाजिक कल्याण द्वारा जनता को लाभान्वित करता है। पिछले 30–40 सालों में दीर्घआयुता में वृद्धि, मृत्यु दर में कमी आई है, जल और तेल सप्लाई में वृद्धि हुयी है और स्वास्थ्य देखभाल और शिक्षा के क्षेत्र में भी वृद्धि हुयी है। परन्तु विकास के अन्य दुष्परिणाम भी सामने आये हैं। यह गरीब लोगों को नुकसान पहुँचाता है और पारम्परिक जीवन शैली की जड़ों पर कुठाराघात करता है। यह सामाजिक धुव्रीकरण की ओर अग्रसर कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा समर्थित संरचनात्मक व्यवस्था विकासशील देशों को औपचारिक बाजार व्यवस्था की ओर अग्रसित करता है। इसके कारण विकासशील देशों के गरीब असुरक्षित स्थिति में आ जाते हैं।

यद्यपि आर्थिक विकास मूलभूत आवश्यकता है परन्तु यह सामाजिक संरक्षण की गारन्टी नहीं देता है। बहुत से देशों ने सामाजिक सुरक्षा योजनाएं बनाई हैं विशेष रूप से विशेष वर्ग के कामकाजी लोगों को ध्यान में रखकर। इनमें से केवल कुछ छोटे अल्पसंख्यक प्रभावी संरक्षण प्राप्त कर पाते हैं परन्तु कुछ देशों ने अपनी बड़ी जनसंख्या को तुलनात्मक दृष्टि से कम समय में संरक्षण प्रदान करने में सफलता पाई है।

17.6 भारत में कल्याणकारी राज्य

लोककल्याणकारी राज्य वह राज्य है जिसमें शासन शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याण हेतु नहीं वरन् सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है कल्याणकारी राज्य की विचारधारा नई नहीं है। भारत में प्राचीन काल में प्रचलित रामराज्य की धारणा एक ऐसे राज्य की धारणा है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों में राजपद के दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है परन्तु साथ ही साथ राजपद के कर्त्तव्यों की विशद् विवेचना कर यह स्थापित किया गया है कि राजा के सभी कार्य लोककल्याण की दृष्टि से ही किए जाने चाहिए। महाभारत, पाराशर की स्मृतियाँ तथा मार्कण्डेय, मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने इसी तथ्य का समर्थन किया है।

स्वतंत्र भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की विचारधारा को स्वीकृत एवं प्रोत्साहित किया गया है। भारतीय संविधान के तृतीय और चतुर्थ भाग में सामाजिक न्याय के विधि उपायों का वर्णन किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत भूमि पर कानून के समक्ष सभी समान हैं और सबको समान संरक्षण प्राप्त है। अनुच्छेद 15 धर्म, मूल–वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान आदि के आधार पर विभेद का निषेध करता है। अनुच्छेद 16 के द्वारा सरकारी पदों पर नियुक्तियों के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर की समानता प्रदान की गई है। अनुच्छेद 23 द्वारा मानव क्रय–विक्रय और बलात् श्रम अथवा बेगार का अन्त किया गया है। अनुच्छेद 24 द्वारा कारखानों में बच्चों से कार्य करवाने की मनाही की गई है। अनुच्छेद 29 तथा 30 द्वारा अल्पसंख्यकों की शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी हितों तथा अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था की गई है। मौलिक अधिकारों में निहित उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त संविधान निर्माताओं ने राज्य नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से लोककल्याणकारी राज्य की प्राप्ति का प्रयास किया है। अनुच्छेद 38 से अनुच्छेद 51 तक वर्णित विविध नीति निदेशक तत्वों से कल्याणकारी राज्य की प्राप्ति के कुछ प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं – अनुच्छेद 42 के अनुसार कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने, शिक्षा पाने तथा बीमारी, बुढ़ापा, बेकारी आदि के अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक प्रयास करेगा। अनुच्छेद 42 में संविधान ने राज्य को निर्देश दिया है कि वह काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति–सहायता के लिए उपबन्ध करे। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी का प्रबन्ध, अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए समान व्यवहार–संहिता, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति और अनुच्छेद 47 आहार पुष्टि और जीवन–स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार करने का राज्य का कर्त्तव्य आदि, ऐसे मूल सिद्धान्त है जिनका पालन करने से भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना है। संविधान के अनुच्छेद 39 में राज्य से कहा गया है कि वह अपनी नीति का संचालन ऐसा करे जिससे समान रूप से सभी नर–नारियों को आजीविका से पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और वितरण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे अधिकाधिक हित सम्भव हो सके, आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन का उत्पादन और वितरण के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केन्द्रण न हो, पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमारता का दुरुपयोग न हो, आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर किसी को ऐसे व्यवसाय में न जाना पड़े जो उसकी आयु तथा शक्ति के उपयुक्त न हो, शैशव और किशोर अवस्था का शोषण तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् लोककल्याण की दिशा में किए गए कुछ महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं –

1. सामिजक न्याय की स्थापना के लिए आर्थिक विकास जरूरी है। आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए भारत में पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गईं। 11वीं योजना (2007–12) के पश्चात् 12वीं योजना निरन्तर चल जारी है।

2. आर्थिक क्षेत्र में जागीरदारी और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया। भूमि सुधारों को लागू किया गया और इस हेतु संघ व राज्य सरकारों ने विभिन्न कानून बनाए हैं। चकबन्दी, सहकारी खेती, ग्रामोद्योग और रोजगार सम्बन्धी कानून बनाये गए हैं और योजनाएं लागू की गयी हैं।

3. श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक कानूनों का निर्माण किया गया है और उनके लिए जीवन बीमा योजनाएं, भविष्य निधि योजना, व बोनस देने की योजना लागू की गयी है, जिनसे लाखों श्रमिकों को लाभ प्राप्त हो रहा है।

4. 14 वर्ष की आयु तक के सभी बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा हेतु वर्ष 2002 में 86वें संविधान संशोधन द्वारा देश के सभी 6–14 वर्ष की उम्र के बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार प्रदान करने का प्रयास किया गया और वर्ष 2010 में शिक्षा का अधिकार कानून पूरे देश में लागू कर दिया गया है। अब राज्य सरकारों द्वारा 6–14 वर्ष के बच्चों की निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। 2 अक्टूबर, 1978 से प्रौढ़ शिक्षा का भी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

5. सरकार द्वारा अनुसूचित जाति, जनजाति अन्य पिछड़ वर्गों व बच्चों के लिए कई कल्याणकारी योजनाएं लागू की जा रही हैं।

6. ग्रामीण रोजगार के क्षेत्र में अब तक की सबसे महत्वाकांक्षी योजना राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना को फरवरी 2006 में लागू किया गया है। अक्टूबर 2009 में इसका नामकरण महात्मा गाँधी के नाम पर किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक बेरोजगार को 100 दिन के रोजगार की गारण्टी है। अन्यथा पंजीकरण के 15 दिन बाद सरकार द्वारा व्यक्ति को रोजगार भत्ता दिया जायेगा।

7. पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश में गरीबी को समाप्त करने तथा लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के प्रयास किये गये। तीव्र औद्योगीकरण एवं आधारभूत उद्योगों का विकास करके अधिकतम व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने के प्रयास किए गए हैं।

8. स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का विकास करने का प्रयास किया गया है जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो। समाजवादी, समतायुक्त और शोषण–रहित शासन व्यवस्था की स्थापना की दिशा में प्रयत्न किए गए हैं।

9. महिलाओं के कल्याण के लिए विविध कार्यक्रम निर्धारित किए गये हैं। महिलाओं के कल्याण के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड तथा राज्य समाज कल्याण बोर्ड प्रमुख भूमिका निभाते हैं। राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोग महिलाओं के उत्थान एवं सुरक्षा की दिशा में विशिष्ट दायित्वों का निवर्हन करते हैं। महिलाओं के पुनर्वास, प्रशिक्षण और रोजगार की व्यवस्था करने, राष्ट्रीय ऋण कोष से ऋण दिलाने, महिला साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए विविध कार्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है। दहेज प्रतिषेध अधिनियम, सती निवारण अधिनियम तथा उच्च शिक्षा के लिए महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने के लिए विभिन्न सुविधाएं प्रदान करना जैसे विशिष्ट कार्यक्रमों का सहारा लिया जा रहा है।

10. वर्ष 2013 में संसद द्वारा पारित खाद्य सुरक्षा अधिनियम देश की दो तिहाई आबादी को दो वक्त की रोटी का कानूनी हक देने वाला ऐतिहासिक अधिनियम स्वीकृत हो गया है। इस अधिनियम द्वारा ग्रामीण इलाके में 75% और शहरी इलाके में 50% लोगों को हर महीने पाँच किलो अनाज न्यूनतम दर पर मिलेगा।

17.7 कल्याणकारी राज्य के कार्य

लोककल्याणकारी राज्य सरकार का वह प्रकार है जिसमें राज्य अपने नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक हितों के संरक्षण एवं संवर्धन में केन्द्रीय भूमिका निभाता है। यह उन व्यक्तियों के लिये जा न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम नहीं हैं उनके लिए अवसरों की समानता, सम्पत्ति के समान (औचित्यपूर्ण) वितरण की व्यवस्था करता है। यह लोक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक संगठन सम्मिलित हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री टी0एच0 मार्शल ने लोककल्याणकारी राज्य को प्रजातंत्र, कल्याणकारी और पूंजीवाद का अद्भुत संगम बताया है। संक्षेप में कल्याणकारी राज्य के निम्नलिखित कार्य हैं –

1. अन्य राज्यों की भाँति कल्याणकारी राज्य का प्रथम कार्य आन्तरिक सुव्यवस्था एवं विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना है। राज्य के अनिवार्य कार्य के रूप में सम्मिलित इस कार्य हेतु राज्य सेना और पुलिस, सरकारी कर्मचारी व न्याय की व्यवस्था करती है। इस कार्य के व्यय हेतु जनता पर कर लगाती है।

2. व्यक्तियों की स्वतंत्रता एवं राज्य की सत्ता को सुरक्षित रखने हेतु कल्याणकारी राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था करता है। इस हेतु पुलिस, कानून और न्यायालय की स्थापना करता है।

3. कल्याणकारी कार्य आर्थिक विकास पर निर्भर करते हैं। इस हेतु राज्य द्वारा कृषि, उद्योग तथा व्यापार के नियमन व विकास का कार्य अनिवार्य हो जाता है। मुद्रा निर्माण, प्रमाणिक नाप और तौल, व्यवसायों का नियमन, कृषकों को राजकोषीय सहायता, सिंचाई व्यवस्था बीज वितरण के गोदाम खोलना, कृषि सुधार, प्राकृतिक संसाधनों और सम्पत्ति की रक्षा तथा कृषि व उद्योगों के मध्य सन्तुलन स्थापित करना प्रमुख एवं आवश्यक कार्य हैं।

4. कल्याणकारी राज्य का एक प्रमुख कार्य आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी है। इसके अन्तर्गत व्यक्तियों को रोजगार एवं अधिकतम समानता सम्मिलित है। यदि राज्य रोजगार प्रदान नहीं कर पाता तो जीवन निर्वाह भत्ते की व्यवस्था होनी चाहिए। व्यक्तियों को न्यूनतम जीवन स्तर की गारन्टी अर्थात भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएं उपलब्ध करानी चाहिए। अधिकतम समानता भी आर्थिक सुरक्षा के अन्तर्गत आता है और राज्य को हर सम्भव प्रयास द्वारा व्यक्तियों की आय में न्यूनतम और अधिकतम स्तर की दूरियों को कम से कम करना चाहिए जिससे धन के आधार पर कोई दूसरे का शोषण न कर सके।

5. लोककल्याणकारी राज्य के सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य यथा–परिवहन, संचार–साधन, रेडियो, सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि

के वैज्ञानिक साधनों आदि से सम्बन्धित कार्य करने चाहिए। यद्यपि इस हेतु राज्य द्वारा जनता से शुल्क लिया जाता है परन्तु यह शुल्क सार्वजनिक कोष में जाता है और उसका उपयोग अधिक सुविधाएं प्रदान करने के लिए ही किया जाता है।

6. कल्याणकारी राज्य समाज सुधार सम्बन्धी कार्य भी करता है राज्य द्वारा समाज में उत्पन्न विभिन्न आधारों पर विभेद समाप्त कर समानता स्थापित की जाती है और परम्परागत सामाजिक कुरीतियों मद्यपान, बालविवाह, छुआछूत, जातिप्रथा आदि को दूर करने का कार्य किया जाता है।

7. कल्याणकारी राज्य द्वारा व्यक्तियों को राजनीतिक सुरक्षा प्रदान की जाती है और इस हेतु लोकतंत्र को प्रोत्साहन दिया जाता है। विचार अभिव्यक्ति, संगठन, सम्मेलन आदि की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है।

8. कल्याणकारी राज्य जनता को स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था भी करता है। राज्य द्वारा सार्वजनिक पार्कों, क्रीडास्थलों, तरणतालों, सिनेमा गृहों, रंगमंच, रेडियो और दूरदर्शन का प्रबन्ध किया जाता है।

9. कल्याणकारी राज्य का आदर्श सार्वभौमिक है अतः इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा और युद्ध के स्थान पर सहयोग और सद्भावना को प्रोत्साहित किया जाता है। लोककल्याणकारी राज्य को अपनी समृद्धि को स्थायी बनाये रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि को ध्यान रखना आवश्यक है। प्राचीन आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम' को यथार्थ में चरितार्थ करना कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य है क्योंकि इससे ही इसका कल्याण और आदर्श स्थायी हो सकते हैं।

10. कल्याणकारी राज्य का आधारभूत कार्य नियोजन है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से राज्य का सम्बन्ध है और प्रत्येक कार्य में सफलता नियोजित कार्य द्वारा ही सम्भव है। जिन–जिन क्षेत्रों में राज्य को कार्य करना है, उनका प्राथमिकता के आधार पर वर्गीकरण, उसके सम्पादन हेतु साधनों का विकास, कार्यावधि का निर्धारण, आदि को यह निश्चित करता है। इसीलिए समस्त विकासशील देश तीव्रगति से आर्थिक विकास हेतु नियोजन की प्रक्रिया को अपनाते हैं।

17.8 कल्याणकारी राज्य की आलोचना

वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय शब्दावली कल्याण्कारी राज्य की व्यक्तिवादियों और समाजवादियों दोनों ने ही आलोचना की है। व्यक्तिवादी राज्य के नकारात्मक कार्यों को आधार मानते हुए आलोचना करते हैं वहीं समाजवादी वास्तविक कल्याण को पूंजीवादी व्यवस्था में असम्भव मानते हैं। कल्याणकारी राज्य की कुछ आलोचनाएं संक्षेप में निम्नानुसार हैं :–

1. व्यक्तिवादियों का मानना है कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो जाता है और परिणामस्वरूप राज्य की शक्तियों में वृद्धि होती है। राज्य के अति शक्तिशाली होने पर व्यक्ति की स्वतंत्रताओं का हनन होता। पूर्व अमरीकी राज्य सचिव बायर्नेस ने इसीलिए इसे 'विकराल सरकार' कहा था।

2. कल्याणकारी कार्यों से व्यक्ति की योग्यता और चरित्र का पतन होता है। परिश्रमी और योग्य व्यक्तियों के परिश्रम से अकर्मण्य लोगों को सुख और आराम पहुँचाया जायेगा जिससे समाज की प्रगति रुकेगी और योग्य व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। वहीं दूसरी ओर जनता आलसी और अकर्मण्य हो जायेगी। लोगों की प्रत्येक कार्य के लिए राज्य पर निर्भरता की भावना निरन्तर बढ़ेगी और राज्य की प्रगति अवरुद्ध होगी।

3. कल्याणकारी राज्य की आलोचना अति व्यय साध्य होने के कारण भी की जाती है। कल्याणकारी कार्यों एवं योजनाओं को सम्पादित करने के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। सामान्य आर्थिक साधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय–भार वहन नहीं कर सकता। इसीलिए अमरीकी सीनेटर टैफ्ट ने विरोध करते हुए कहा था कि 'लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जायेगी।' धन जुटाने हेतु धनी वर्ग पर अधिक कर लगाया जायेगा जिससे वे हतोत्साहित होंगे और उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा।

4. लोक कल्याणकारी प्रवृत्ति अपनाने से राज्य में नौकरशाही की शक्ति और कार्यों में अधिक वृद्धि होगी जिससे लालफीताशाही, भाई–भतीजावाद और भ्रष्टाचार जैसे बुराइयाँ उत्पन्न होंगी।

5. समाजवादी, पूंजीवादी व्यवस्था में कल्याणकारी राज्य को एक दिखावा मात्र मानते हैं। उनका कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था को शोषित जनता के आक्रमण से बचाने के लिए और समाजवादी विचारों के प्रभाव को कम करने के लिए यह एक उपाय है। पूंजीवादी राज्य कभी वास्तविक अर्थ में कल्याणकारी हो ही नहीं सकता और वास्तविक अर्थ में समाजवादी राज्य ही कल्याणकारी हो सकते हैं।

17.9 कल्याणकारी राज्य की सफलता के उपाय

विभिन्न समस्याओं और बाधाओं के कारण लोक कल्याणकारी राज्य अपने चरम उद्देश्य की प्राप्ति करने में असफल रहा है। भारत जैसे विकासशील देश में उत्पादन का स्तर निम्न होने से कल्याणकारी उद्देश्य की पूर्ति पूर्णतया संभव नहीं है। यद्यपि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुयी है परन्तु फिर भी यह बड़ी समस्या अभी भी विद्यमान है। लोगों में काम के प्रति उत्साह की कमी है। धनी वर्ग काम को निम्न दृष्टि से देखते हैं और उससे दूर भागना चाहते हैं। त्याग, अनुशासन तथा आकांक्षा जैसे गुण लोक कल्याणकारी राज्यों के लिए आवश्यक हैं जिनका नागरिकों में अभाव पाया जाता है। कल्याणकारी कार्यों के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है जो करों के माध्यम से पूरा किया जाता है और इसी के कारण अत्यधिक कर भार की समस्या उत्पन्न होती है। भूस्वामित्व एक समस्या है विशेष रूप से भारत में। भूमि का अधिकांश भाग केवल कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित है अधिकांश लोग भूमिहीन हैं। जब तक भूमि का न्यायपूर्ण बँटवारा नहीं होता उत्पादन के स्तर में वृद्धि भी नहीं होगी। जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। ए.डी. गोरवाल ने भी कहा है कि 'जनसंख्या की समस्या के समाधान के बिना लोक कल्याण के सारे प्रयास व्यर्थ हो जायेंगे। जनता की अशिक्षा और संकीर्ण निष्ठाएं कल्याणकारी राज्य की सबसे बड़ी बाधा है। इसके कारण जनता कल्याणकारी कार्य के अर्थ एवं महत्व को नहीं समझती है और राज्य

के कार्यों में बाधा पहुँचाती है। बेरोजगारी की समस्या कल्याणकारी राज्य के मार्ग की एक अन्य बाधा है जिसका समाधान करना राज्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। मजदूर वर्ग से लेकर शिक्षित समुदाय तक फैली बेरोजगारी की समस्या को दूर किये बिना कोई भी कार्यक्रम असफल सिद्ध होगा।

17.10 कल्याणकारी राज्य की सफलता के उपाय

कल्याणकारी राज्य की सफलता के लिए कुछ बातों का होना आवश्यक है। कल्याणकारी राज्य एक व्यय साध्य राज्य है और इसलिए राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए जनता के नैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है। परिश्रम ही सब कुछ है इस बात को स्वीकार कर जनता को परिश्रमी होना और कल्याणकारी राज्य के प्रति उत्साह रखना आवश्यक है। अनुशासन कल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक है जिससे जनता राज्य की विधियों का आदर करे, पालन करे और राज्य को सवार्थ सिद्धि का साधन न बनाये। कल्याणकारी देश की जनता को कर देने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।

कल्याणकारी राज्य में लक्ष्य और लक्ष्य प्राप्ति के साधनों पर भलीभाँति विचार करना आवश्यक होता है। जनता के बौद्धिक एवं सक्रिय सहयोग हेतु प्रशासक व जनता के मध्य दूरी कम होनी चाहिए तथा कल्याणकारी कार्यों के प्रत्येक स्तर पर जनता का सहयोग होना चाहिए। जनता की आवश्यकताओं एवं भावनाओं के अनुरूप कार्यक्रम में परिवर्तन होना चाहिए। कल्याणकारी प्रशासन एवं अन्य प्रशासन को समय–समय पर अपनी सफलताओं एवं विफलताओं का मूल्यांकन करना चाहिए जिससे गलत नीतियों के क्रियान्वयन पर रोक लग सके। हर कल्याणकारी अधिकारी को जनता का धन व्यय करने में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए तथा अपव्यय से बचना चाहिए, जिससे सार्वजनिक धन से जनता को अधिक से अधिक लाभ पहुँचे। सार्वजनिक प्रशासन व सामाजिक प्रशासन में उचित समन्वय होना चाहिए और विभिन्न योजनाएं बनाते समय पारस्परिक विचार विमर्श करना चाहिए। प्रशासन को लालफीताशाही व नौकरशाही के अन्य दोषों से बचना चाहिए। अन्त में प्रत्येक अधिकारी को ईमानदारी से अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए और लक्ष्य प्राप्ति तक सेवा कार्य चलते रहना चाहिए। प्रशासन में कल्पना व दूरदर्शिता होनी आवश्यक है। कल्याणकारी राज्य को सफल बनाने के लिए भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण बहुत जरूरी है। विधि द्वारा न्यूनतम मजदूर का निर्धारण भी आवश्यक है जो जितना और जैसा काम करे उसी के अनुसार न्यूनतम मजदूरी हो।

अन्ततः इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या कल्याणकारी राज्य की अवधारणा प्रभावी हो चुकी है यह कहा जा सकता है कि बहुत कुछ मात्रा में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा प्रभावी हो चुकी है और इसने नागरिकों के कल्याण हेतु सरकार के कार्यक्षेत्र को भी विस्तृत कर दिया है। परन्तु अन्य राजनीतिक नीतियों की भाँति कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में कुछ छिद्र–बिन्दु हैं। प्रबन्धन एवं भ्रष्टाचार के प्रसार ने इसे कलंकित कर दिया है। राजनीति व्यवस्था के निम्न से लेकर सर्वोच्च शिखर तक अपने कार्यों को करवाने के लिए सामान्य जनता को रिश्वत देने हेतु बाध्य किया जाता है। फिर भी वर्तमान सन्दर्भ में लोकतंत्रों में कल्याणकारी राज्य प्रभावी हैं और इसके संरक्षक, सामाजिक सेवाओं के प्रदाता, औद्योगिक प्रबन्धक तथा आर्थिक नियंत्रक के रूप में कार्य जन स्वीकार्य हैं।

17.11 सारांश

राज्य के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विपरीत कल्याणकारी राज्य सरकार के असीमित कार्य एवं उत्तरदायित्वों का समर्थन करता है। कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो नागरिकों के सामाजिक एवं आर्थिक हित एवं कल्याण की जिम्मेदारी स्वयं वहन करते हैं। कल्याणकारी राज्य की विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषा दी है और इन परिभाषाओं का निष्कर्ष है कि कल्याणकारी राज्य में राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्य सद्भावना या दया की दृष्टि से नहीं वरन् व्यक्ति के अधिकार की दृष्टि से सम्पादित किये जाते हैं। कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता पर बल देता है, प्रगतिशील उपायों को लागू करना चाहता है और विस्तृत सामाजिक सेवाएं प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुरक्षा हेतु विविध कार्य करता है। कल्याणकारी राज्य का उदय व्यक्तिवादी विचारधारा की प्रतिक्रया स्वरूप उत्पन्न हुआ। 19वीं शताब्दी में यूरोप में अनेक देशों में यही विचारधारा प्रचलित थी जिसके अनेक घातक परिणाम हुए। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज को दो टुकड़ों में बाँट दिया और श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप की आवश्यकता हुई और सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में मजदूरों के लाभ के लिए कुछ कानून बनाये गये और कल्याणकारी धारणा का सूत्रपात हुआ। उसी समय यूरोप में समाजवादी विचारधारा के उदय ने पूंजीवादी लोकतांत्रिक देशों को भयाक्रान्त कर दिया और इन देशों में इसके फलस्वरूप कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का तेजी से प्रचार हुआ और यह लोकप्रिय सिद्धान्त बन गया।

विकाशील देशों में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में निर्धनता सबसे बड़ी बाधा है और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा समर्थित व्यवस्था विकाशील देशों को औपाचारिक बाजार व्यवस्था की ओर अग्रसर करती है। भारत में प्राचीन समय से ही कल्याणकारी अवधारणा का समर्थन हुआ है। भारतीय संविधान के भाग तीन और चार में उल्लिखित मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों द्वारा इसे पुष्ट करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न योजनाओं एवं कार्यक्रमों द्वारा इसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा रहा है। कल्याणकारी राज्य की अत्यधिक व्यय साध्य, लोगों को अकर्मण्य बनाने, योग्यता एवं चरित्र के पतन तथा नौकरशाही की निरंकुशता का आरोप लगता है। इन आलोचनाओं के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य आज सर्वाधिक लोकप्रिय शब्द हैं और यदि व्यक्ति में दृढ़ इच्छा शक्ति, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में कर्तव्यनिष्ठा एवं ईमानदारी, साध्य एवं साधन का सामंजस्य हो तो इसे सफल बनाया जा सकता है।

17.12 शब्दावली

व्यक्तिवाद – एक ऐसा सिद्धान्त जो व्यक्ति को महत्व देता है तथा उसकी स्वतंत्रता व स्वायत्ता का गुणगान करता है, एक सीमित प्रकार के राज्य का प्रतीक।

लालफीता शाही – कर्मचारियों द्वारा कार्य करने की प्रक्रिया, आवश्यकता से भी अधिक देरी करने की प्रक्रिया, देरी करने के तरीके।

नौकरशाही – कर्मचारियों का शासन, प्रशासनिक यंत्र, राज्य का लोक प्रशासकों द्वारा शासन

भूमण्डलीकरण – एक ऐतिहासिक प्रक्रिया जिसके फलस्वरूप मानवीय संबंध दूर–दूर के संघ समुदायों व समाजों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास करते हैं, समाजों के बीच निकटता व संबद्धता के दायरे में लाना, दूरियों को दूर करने का यत्न, मानव संबंधों की एक ऐसी स्थिति जहाँ पूरा संसार एक हो जाने के मार्ग पर चलना चाहता है।

न्यू डील – अमरीका में रुजवेल्ट की सरकार (1933–45) द्वारा गरीबें की सहायता के लिए अपनाएं गए सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रम

फेयरडील – अमरीका में राष्ट्रपति हैरी एस ट्रूमैन (1945–53) द्वारा 1945 में कांग्रेस को आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण हेतु दिये गये 21 सूत्रीय प्रस्ताव।

17.13 उपयोगी पुस्तकें

1. ए0डी0 आर्शीवादम् एवं कृष्णकान्त मिश्रा (2001), राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।
2. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. डॉ. पुखराज जैन एवं बी.एल. फाड़िया राजनीतिक सिद्धान्त पारम्परिक और समकालीन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
4. Gosta Esping-Andeson (1990) The Three Worlds of Welfare Captalism Princton University Press, Princeton, New Jersey

17.14 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

(ब) कल्याणकारी राज्य के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

(स) भारत में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

(द) कल्याणकारी राज्य के विकास का वर्णन कीजिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) विकासशील देशों में कल्याणकारी राज्य का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

(ब) कल्याणकारी राज्य की सफलता के उपायों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

(स) कल्याणकारी राज्य की व्यक्तिवादी और समाजवादी आलोचना क्या है?

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

(अ) कल्याणकारी राज्य को निम्न में से क्या नहीं करना चाहिए?

(v) आर्थिक कार्य

(vi) सामाजिक सुरक्षा के कार्य

(vii) राजनीतिक कार्य

(viii) जनमत पर प्रतिबन्ध

(ब) 'कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए दूरगामी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है।' यह कथन निम्न में से किसका है?

(v) टी.डब्ल्यू. केन्ट

(vi) जी.डी.एच. कोल

(vii) गार्नर

(viii) डॉ. अब्राहम

(स) कल्याणकारी राज्य की विशेषता कौन सी है?

(v) कल्याणकारी राज्य को निरक्षरता, निर्धनता और बेरोजगारी हटाने के कार्य करने चाहिए।

(vi) कल्याणकारी राज्य को स्कूलों, अस्पतालों और जनता की आश्यकताआ पूर्ति हेतु अन्य संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिए।

(vii) मानव गरिमा और व्यक्तित्व का सम्मान तथा सभी को न्याय प्रदान करना चाहिए।

(viii) उपरोक्त सभी

(द) निम्न में से कल्याणकारी राज्य को क्या करना चाहिए –

(v) जनता के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप

(vi) जनमत पर प्रतिबन्ध

(vii) कला, संस्कृति और नैतिकता में हस्तक्षेप

(viii) राजनीतिक कार्य

(य) लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त

(v) व्यक्तिवाद के अनुरूप है

(vi) व्यक्तिवाद के विपरीत है

(vii) व्यक्तिवाद से असम्बद्ध है

(viii) इसमें से कोई नहीं

(र) लोक कल्याणकारी राज्य –

- (v) युद्धों का समर्थन करता है
- (vi) अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है
- (vii) युद्धों का विरोध करता है
- (viii) इसमें से कोई नहीं

17.15 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

- (अ) देखिए इकाई का 17.2 एवं 17.3 अंश
- (ब) देखिए इकाई का 17.7 अंश
- (स) देखिए इकाई का 17.6 अंश
- (द) देखिए इकाई का 17.4 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

- (अ) देखिए इकाई का 17.5 अंश
- (ब) देखिए इकाई का 17.10 अंश
- (स) देखिए इकाई का 17.8 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

- (अ) (iv)
- (ब) (i)
- (स) (iv)
- (द) (iv)
- (य) (ii)
- (र) (iii)

इकाई 18

राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त

इकाई की रुपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 मार्क्स का वर्ग–सिद्धान्त और राज्य

18.2.1 बुर्जुआ वर्ग और राज्य

18.2.2 सर्वहारा वर्ग और राज्य

18.2.3 वर्गीय चेतना का उद्भव

18.3 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त

18.3.1 आदिम अवस्था में राज्य

18.3.2 व्यक्तिगत सम्पत्ति

18.3.2 श्रम–विभाजन का सिद्धान्त

18.4 राज्य का क्रमिक विकास और उत्पादन प्रणाली

18.4.1 आदिम साम्यवादी युग

18.4.2 दास युग

18.4.3 सामंतवादी युग

18.4.4 पूंजीवादी युग

18.4.5 समाजवादी (आदर्श) युग

18.5 राज्य की भूमिका एवं कार्य

18.5.1 समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

18.5.2 आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

18.5.3 राज्य की 'विलुप्त' अवस्था

18.6 राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की समीक्षा

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

18.9 उपयोगी पुस्तके

18.10 सम्बन्धित प्रश्न

18.11 प्रश्नोत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन करते हुए उसकी समूची रुपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसे पढ़ने के पश्चात् आपः–

- राज्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्त की आधारभूत संकल्पना को भलीभांति समझ सकेंगे।
- राज्य का वर्ग–सिद्धान्त एवं वर्गीय चेतना के उद्भव पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- राज्य की उत्पति के सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में मार्क्सवादी अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगें।
- राज्य के विकासात्मक स्वरुप और सम्बन्धित उत्पादन प्रणाली का तुलनात्मक अवलोकन कर सकेंगें।
- राज्य के कार्यो के सम्बन्ध में मार्क्सवादी संकल्पना को भलीभांति समझते हुए उसकी विवेचना कर सकेंगे है।

18.1 प्रस्तावना

कार्ल हेनरिक मार्क्स (1818–83) जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक था जिसने वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादन कर राजनीति विज्ञान को एक क्रान्तिकारी दिशा प्रदान की। वह आदर्शवादी विचारक जी. डब्ल्यू. एफ. हेगल के चिंतन से बहुत प्रभावित हुआ तथा इसके द्वन्दात्मक पद्धति के आधार पर ही अपने 'द्वन्दात्मक भौतिकवाद' सम्बन्धी सिद्धान्त की संकल्पना प्रस्तुत की। पेरिस में समाजवाद के गूढ़ अध्ययन के दौरान उसकी मुलाकात फैद्रिकएगेल्स (1820–95) से हुई। कुछ विषयों पर वैचारिक समानता के आधार पर दोनों में घनिष्ठता स्थापित हुई। आगे चलकर दोनो ने एक अच्छे सहयोगी, रचनाओं के सह–संपादक आदि के रुप में मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास में अविस्मरणीय भूमिका निभायी। इसलिए मार्क्सवादी सिद्धान्त में मार्क्स और एजिल्स दोनों की विचारधारायें सम्मिलित हैं। मार्क्सवादी विचारों का नेतृत्व यद्यपि मार्क्स ने ही किया, परन्तु उसका एक बड़ा भाग एंजिल्स की ही देन है, जिसे कभी नकारा नहीं जा सकता है।

मार्क्सवादी सिद्धान्त के अर्न्तगत मार्क्स और एंजिल्स ने 19वीं शताब्दी के यूरोप में पूंजीवाद से जुड़ी हुई सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारधारा उदारवाद को चुनौती देते हुए एक नवीन एवं क्रान्तिकारी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा को बढ़ावा दिया। आधुनिक समय में यह विचारधारा अपने द्वन्दात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष, संक्रमणकालीन समाजवाद तथा आधुनिक साम्यवाद की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहा है। राज्य के सम्बन्ध में व्यवस्थित सिद्धान्त यद्यपि मार्क्सवादी में नही पाया जाता, परन्तु राज्य की वास्तविक भूमिका का जो निरुपण मार्क्स और एजिल्स ने किया वह आज उसी रुप में विभिन्न देशों में दिखायी पड़ रही है। राज्य से सम्बन्धित उसके विचार उसकी विभिन्न रचनाओं में समय–समय पर प्रकट हुए। उसकी प्रमुख रचनायें है – दि

पावर्टी आफ फिलॉसफी (1847), दि कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो–(1848) 'वैल्यू', प्राइस एण्ड प्राफिट (1867), और 'दास कैपिटल तथा हीगल्स फिलांसफी ऑफ ला (1843), सोशलिज्म फार्म यूटोपिया टु साइन्स' आदि इन सभी महत्वपूर्ण रचनाओं में राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त स्पष्ट रुप से निरुपित हुआ है। अपनी एक महत्वपूर्ण रचना 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टों के अन्तर्गत मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद में राज्य के विकासात्मक स्वरुप का वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है।

18.2 राज्य का वर्ग–सिद्धान्त–मार्क्सवादी अवधारणा

राज्य का वर्ग–सिद्धान्त सम्बन्धी मार्क्सवादी अवधारणा का विवेचन उसके ऐतिहासिक भौतिवाद को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है। क्यों कि राज्य के विकास की यात्रा हमें क्रमशः वाद–प्रतिवाद–संवाद के रुप में ही इस सिद्धान्त के अन्तर्गत स्पष्ट होती है। अतः सर्वप्रथम यही राज्य का वर्ग सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा अपरिहार्य हो जाती है।

18.2.1 बुर्जुआ वर्ग और राज्य

मार्क्सवाद के अनुसार यह वहीं बुजुर्आ वर्ग है जिसके हाथ में सत्ता होती है और राज्य एक 'यन्त्र' की भांति होता है। यह समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग होता हैं जो शोषण के आधार पर जीता है। समस्त उत्पादन की शक्तियां इसी वर्ग के हाथ में होती है। एमाइल बर्न्स ने बुजुर्आ वर्ग को व्याख्यायित किया है कि ''यह वर्ग उत्पादन कार्यो में लगे हुए वर्गो की परिश्रम की कमाई पर पिस्सू की तरह जीता है और स्वयं कोई कार्य नहीं करता है।'' उत्पादक वर्ग द्वारा अतिरिक्त समय कार्य करके कमाया गया धन या परिश्रमिक 'जिसे मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य कहा हैए वह उसे स्वयं हड़प जाता है। इसमें राज्य की भूमिका 'शोषण के यन्त्र' की रहती है।

18.2.2 सर्वहारावर्ग और राज्य

मार्क्स और एजिल्स के अनुसार यह एक ऐसा वर्ग होता है जो सही रुप में उत्पादन का काम करता है। उदाहरण के लिए दास, किसान और मजदूर जो कठिन परिश्रम करके कमाते हैं किन्तु उसे बुर्जुआ वर्ग जो शोषक होता है। हड़प जाता है। इसलिए जब समाज में कुछ लोग श्रम करने के लिए बाध्य होते है और दूसरे लोग उसके जी–तोड़ परिश्रम का लाभ स्वयं हड़प जाते है तो समाज वर्गों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार वर्गों का जन्म इस आर्थिक विषमता के कारण होता है और आर्थिक विषमता उत्पादन के साधनों के अनुचित वितरण और श्रम के असमान विभाजन से उत्पन्न होती है। इन दोनो वर्गों के हितों में टकराहट होने के कारण ही मार्क्स क्रान्ति को अवश्यम्भावी मानता है।

18.2.3 वर्गीय चेतना का उद्भव

ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा के अनुसार समाज का अब तक का इतिहास वर्ग–संधर्षों का इतिहास मात्र है। प्राचीन काल से चाहे वह आदिम साम्यवादी युग रहा हो या वर्तमान में पूंजीवादी युग हमेशा पस्पर विरोधी वर्ग विद्यमान रहे हैं। आधुनिक युग में कामगार और पूंजीपति परस्पर विरोधी वर्गों के रुप में विद्यमान रहा है। मार्क्स के अनुसार आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष अपने चरम

पर पहुँच चुका है। वर्गों का विभेदीकरण एवं वर्ग–चेतना पूरी तरह विकसित हो चुकी है। मध्य वर्ग में भी यह वर्ग चेतना जागृत होती है और वह अन्ततः विवश होकर कामसार वर्ग में शामिल हो जाता है। इससे सर्वहारा वर्ग का संगठन और विस्तृत एवं सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अन्ततः सर्वहारा वर्ग मुट्ठी भर पूंजीपतियों को पराजित करने में सफल हो जाता हैं।

मार्क्स कहता है कि इस वर्गीय चेतना के परिणाम स्वरुप जो कान्ति होगी वह पिछली सभी क्रान्तियों से भिन्न एवं अद्वितीय रहेगी। क्यों कि इस क्रान्ति के पश्चात् जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित होगी वहाँ वास्तविक लोकतन्त्र कायम होगा। यही पर राज्य स्वयं सर्वहारा का सहयोगी बनकर शोषक वर्ग का विनाश करेगा। अन्ततः एक वर्ग–विहीन एवं राज्य–विहीन साम्यवादी व्यवस्था का उदय होगा जिसमें सभी व्याक्तयों का कल्याण होगा। इस प्रकार समाजवाद ही वह सक्रमणकालीन अवस्था होगी जिसके पश्चात ही साम्यवाद के अन्तिम पड़ाव पर पहुचना संभव हो सकेगा। किन्तु जब तक वर्गीय चेतना जागृत नहीं होगी तब तक सर्वहारा वर्ग को शोषण से मुक्ति भी नहीं मिलेगी। इस वर्गीय चेतना की जागृति का आधार होता है उनकी एक सी स्थिति जो शोषण के कारण आज हुई है। मार्क्स भी मानता है कि फ्रांसीसी मजदूरो और किसानों के विपरीत सर्वहारा वर्ग में वर्गीय चेतना जागृत हो रही है। इतिहास भी साक्षी है कि समय–समय पर इसी चेतना के कारण परिवर्तन हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि–''आज तक के सभी समाजो का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।''इसी लिए मार्क्स और एंजिल्स दोनो का यह विश्वास है कि निरन्तर बढ़ती हुई वर्गीय चेतना के परिणाम स्वरुप ही होने वाली क्रान्ति के द्वारा एक साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होगी।

18.3 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक सिद्धान्त के अर्न्तगत अथवा मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य को अन्य संस्थाओं की भांति ऐतिहासिक विकास की अंतिम परिणति मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य न तो कोई दैवी संस्था है और न ही कोई बल प्रयोग का परिणाम, अपितु सामाजिक संगठन की प्रक्रिया में विकसित विभिन्न संगठनों में राज्य भी क्रमिक विकास का परिणाम है। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक जे. डब्ल्यू वर्गेस भी कहते है कि ''राज्य इतिहास की उपज है।''राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित ऐतिहासिक सिद्धान्त के सन्दर्भ मे माक्सवादी दृष्टिकोण का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व फैड्रिफ एगेल्स करते है। ये विचार अपनी कृति 'द ओरिजिव आफ द फैमिली, प्रइवेट प्रापर्टी एण्ड दि स्टेट' (1889) में पूर्णतया अभिव्यक्त किया है। राज्य की उत्पत्ति समाज के वर्गो मे विभाजन के बाद वर्गीय अनतर्विरोधों पर अंकुश रखने की आवश्यकता के कारण हुआ है। स्पष्टतः हम कह सकते है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जो एक वर्ग विशेष द्वारा दूसरे वर्गो के शोषण के उद्देश्य से स्थापित की गयी।

18.3.1 आदिम अवस्था में राज्य

जैसा कि एंजिल्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति में कहा है कि ''राज्य का अस्तित्व अनंत काल से नही है। ऐसे समाज भी रहे है जिसमें राज्य नहीं था, उस समय जिसमें राज्य या कोई अन्य शक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कालानतर में अर्थिक विकास के क्रम में एक ऐसी अवस्था आती है जब समाज में विद्यमान वर्गो का विभाजन हो गया और इस विभाजन का अनिवार्य परिणाम राज्य

की उत्पत्ति हुई।'' इस प्रकार से हम कह सकते है कि राज्य की उत्पत्ति वर्ग–विभाजन एवं वर्गीय संघर्ष का परिणाम है। ऐजिल्स ने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था को आदिम साम्यवाद कहकर संबोधित किया।

आदिम साम्यवाद की इस पूर्वावस्था का यदि ऐतिहासिक अवलोकन किया जाय तो हमें यह जानकारी होगी कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की जो अवस्था थी उसका पहला स्वरुप जंगली था। इस जंगली अवस्था में लोग पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर थे। इसके पश्चात् बर्बर अवस्था आती है जब लोग पशुपालन कृषि आदि कार्य प्रारम्भ करते है। इसके बाद तीसरी अवस्था संक्रमणकालीन होती है जब संपत्ति का जन्म होता है और एक प्रभुत्वशाली वर्ग समाज की सभी महत्वपूर्ण संस्थाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। इसीलिए एंजिल्स कहते भी हैं कि ''राज्य समाज की अपनी उपज है जो विकास के एक चरण में समने आती है।'' इस प्रकार आर्थिक समाज के आदिम ढांचे में परिवर्तन के साथ राज्य का अस्तित्व धीरे–धीरे सामने आता है।

18.3.2 व्यक्तिगत सम्पत्ति

मार्क्सवाद के अर्न्तगत राज्य की उत्पत्ति का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति को माना गया है। आदि साम्यवाद की प्रथम दो अवस्थाओं (बंगाली और बर्बर अवस्थाओं) में निजी सम्पत्ति का अस्तित्व नही था। लोगों का समूचा जीवन प्रकृति की छाँव में बीतता था। लोग कृषि और पशुपालन करने लगे। इसके पश्चात् अन्ततः उत्पादन की शक्तियों का क्रमशः विकास हुआ जिसके आधार पर उत्पादन सम्बन्ध बने। व्यक्तिगत सम्पत्ति समाज के कुछ ही वर्गो तक सिमट कर रह गयी। इस प्रकार से एक प्रभुत्वशाली वर्ग अस्तित्व में आता है जो आर्थिक आधार पर अपनी शोषणवादी प्रवृत्ति को कायम करता है। यही वह या पूँजीपतिवर्ग धनवान वर्ग होता है जो राज्य का अपने हित के अनुसार–प्रयोग करता है। इसीलिए यह कहा गया कि ''राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की दासी होती है।'' अर्थात जिस वर्ग के हाथ में आर्थिकशक्ति होती है उसका पूरे समाज पर वर्चस्व होता है।

18.3.3 श्रम–विभाजन का सिद्धान्त

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व आदिम साम्यवादी अवस्था में निजी सम्पत्ति के अस्तित्व में आने के बाद श्रम का विभाजन किया जाता है। इससे समुदाय के सदस्यों के मध्य परस्पर अलगाव व अन्तर्विरोध पैदा होता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध अपने हितों को हरसंभव संरक्षित करना चाहता है। इससे हितो में टकराहट पैदा होती है। निजी संपत्ति जिस वर्ग के हाथ में होती है वही सबसे शक्तिशाली वर्ग होता है जो अपनी निजी सम्पत्ति और श्रमविभावन के कारण पैदा होने वाले अन्तर्विरोधो का दमन करने हेतु राज्य का सहारा लेता है। राज्य केवल शक्तिशाली अर्थात पूँजीवादी वर्ग के हितों को ही संरक्षित करता है।

18.4 राज्य का क्रमिक विकास और उत्पादन प्रणाली

मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन की विभिन्न पद्धतियाँ जो हमें समय–समय पर विभिन्न युगों में दिखायी पड़ती है उसी के अनुरुप विभिन्न प्रकार के राज्यों का अभ्युदय भी होता है। इसीलिए राज्य की प्रकृति और कार्य भी उत्पादन प्रणाली पर ही निर्भर रहा। राज्य का कार्य एवं स्वरुप भी इसीलिए प्रत्येक युग में अलग–अलग रहा है। यह भी सच है कि किसी भी राष्ट्र या समाज के विकास की प्रक्रिया में

अर्थिक तत्व (उत्पादन प्रणाली) जिसके आधार पर उत्पादन संबन्ध बनता है, की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जैसा मार्क्स अपने संरचनात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत कहता है कि आर्थिक संरचना जिसे वह आधार कहता है राजनीतिक अधिरचनाओं को नियन्त्रित करती है। अर्थात किसी भी युग में राजनीतिक संरचना का स्वरुप एवं कार्य क्या होगा यह उत्पादन प्रणाली के आधार पर बने आर्थिक संरचनाओं पर आधारित होता है। मार्क्स इसीलिए उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर इतिहास को पाँच युगो में विभाजित करता है जिस पर हम, विस्तृत रुप से आगामी इकाई में प्रकाश डालने का हर संभव प्रयास करेंगे।

18.4.1 आदिम साम्यवाद का युग

जैसा हमने पूर्व में पढ़ा कि आदिम साम्यवादी अवस्था राज्य विहीन तथा वर्ग विहीन थी। लोगो का जीवन पूर्णतया प्रकृति पर आश्रित था। मार्क्स और एजिल्स के अनुसार इस अवस्था में कृषि और पशुपालन का भी विकास नही हुआ था। समाज में वर्ग चेतना का भी अस्तित्व नहीं था। लोग प्रकृति से अपनी समूची आवश्यकताओ की पूर्ति करके पूरी तरह खुश थे। यहीं सभी व्यक्ति उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनो था। कालान्तर में लोगों को धीरे–धीरे कृषि का ज्ञान होने लगा और जीवन की भौतिक दशाओं में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। निजी सम्पत्ति एवं श्रम–विभाजन के परिणाम स्वरुप अब दास वर्ग का भी अस्तित्व सामने आया।

18.4.2 दास प्रथा युग

मार्क्स के अनुसार दास युग में अनेक अनुसंधान हुए और विभिन्न प्रकार के कृषि से जुड़े यन्त्रों व साधनों का विकास होने के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति तेजी से बढ़ने लगी। कृषि की भूमि के स्वामित्व के आधार पर सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ। इस वर्ग के जन्म लेने से एक दूसरा वर्ग दास भी सामने आया जिसका जीवन कृषि कार्यो एवं श्रम पर आधारित हुआ। इस दास वर्ग के कठिन परिश्रम से जो उत्पादन होता था उसको भूमि का स्वामी सामन्त हड़प लेता था। इससे शक्तिशाली वर्ग के द्वारा गरीब व निर्धन वर्ग के शोषण की करुण दासतान की शुरुआत यहीं से होती है। इसीलिए मार्क्स एवं एजिल्स मानव जीवन के समूचे इतिहास को शोषण का इतिहास कहते है। इस युग में शोषणकर्ता सामन्त वर्ग जो शक्तिशाली था। अन्ततः इस प्रणाली में जो वर्गीय श्रेणी उभर कर सामने आयी उसे स्वामी और दास की संज्ञा दी गयी। स्वामी इस लिए कि वह कृषि भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था जबकि दास कठोर श्रम द्वारा उत्पादन का कार्य करता था।

18.4.3 सामंतवादी युग

इस सामन्तवादी प्रणाली से एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है। अब धीरे–धीरे शक्तिशाली वर्ग को राजनीतिक आधार प्राप्त होता है और राजा का अस्तित्व सामने आता है। राजा द्वारा अपने अधीनस्थ सामन्तों को भूमि प्रदान की जाती है जिसके बदले सामन्त राजा को आर्थिक व सैन्य सहायता देता है। अब छोटे–छोटे किसान वर्ग का अस्तित्व सामने आता है जो समन्तो से भूमि लेकर कृषि कार्य करते हैं और बदले मे समन्त को लगान देते है। इस प्रकार हम देखते है कि उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का प्रभुत्व था। इस युग में आर्थिक संगठन के स्वरूप को ''गिल्ड'' कहा जाता था जो कुशल कारीगरों का एक समूह था इस

युग में उत्पादन कार्य में संलग्न किसानों की स्थिति ठीक नहीं थी। किसान जिन्हें 'सर्फ' कहा जाता था दासो के समान ही शोषण के शिकार थे। किन्तु धीरे–धीरे उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन होने लगा उद्योगो का विकास तथा विभिन्न कल कारखानों एवं यन्त्रों के विकास के कारण पुराना राजनीतिक ढ़ाँचा भी ढहने लगा जो केवल भूमि के स्वामित्व पर आधारित था अब पूंजीवादी व उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था का जन्म हुआ।

18.4.4 पूंजीवादी युग

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य के विकासात्मक स्वरुप के अर्न्तगत पूंजीवादी प्रणाली सबसे महत्वपूर्ण प्रणाली कही जाती है। यह औद्योगिक युग का दौर था, जब स्व–हस्तचालित यन्त्रों के स्थान पर वाह्यचालित यन्त्रों के निर्माण के साथ ही साथ बड़े–बड़े उद्योगो धन्धो का तेजी से विकास हुआ। राज्य पर पूंजीपति वर्ग का एकाधिकार हो गया। अब केवल पूंजीपतियों के हितों को ही संरक्षित किया जाने लगा। इतना ही नही पूंजीवाद के संरक्षण हेतु अनेक सिद्धान्तों का विकास भी किया गया। कारखानों की बढ़ती हुई संख्या के कारण उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया और अब एक गम्भीर समस्या उसके उपभोग को लेकर आयी। अब बहुत से श्रमिको को काम से हटा दिया जाता है जिससे मजदूरों का भी एक बड़ा वर्ग संगठित होता जाता है दूसरी तरफ छोटे–छोटे ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग, आदि सब बन्द हो जाते है। सर्वसाधारण बेरोजगार होता चला जाता है। पूँजीपति मुनाफाखोरी के लिए अतिरिक्त मूल्य कमाने में निरन्तर लगा होता है। यह अतिरिक्त मूल्य वास्तव में सर्वहारा वर्ग से हड़पा जाता है। जीवन निर्वहन हेतु अतिरिक्त श्रम करना सर्वहारा वर्ग की विवशता होती है जिसका लाभ पूँजीपति वर्ग उठाता है और उसको दोहरा लाभ मिलता है। इस अतिरिक्त उत्पादन के खपत हेतु दूसरे देशों में उपनिवेश भी बनाये जाते है और वहाँ भी शोषण किया जाता है। इससे पूँजी का संचय बहुत चन्द लोगो के हाथों में केंद्रित होता जाता है। सामाजिक विषमता बहुत तेजी से बढ़ती है। बड़े–2 पूँजीपति छोटे–2 पूंजीपतियों का निगल जाते है। इस प्रकार पूँजीपति वर्ग अपने विनाश का मार्ग स्वयं ही बनाते जाते है।

18.4.5 समाजवादी युग

मार्क्स ने समाजवादी प्रणाली को एक सक्रमणकालीन अवस्था बताया जिसके पश्चात् ही साम्यवादी व्यवस्था को स्थापित करना संभव होगा। इस समाजवादी व्यवस्था में सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होता है। यहाँ पर एक वर्ग के व्यक्तिगत स्वामित्व को खत्म किया जाता है। किन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं होती है अपितु साम्यवाद की यह आधारशिला कहीं जा सकती है। यह सर्वहारा का अधिनायकवादी राज्य होता है जो पूँजीपतियों को विनष्ट करता है। इस समाजवादी व्यवस्था में राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनकर उसे समाजवादी सम्पत्ति बनाता है। इस व्यवस्था के अर्न्तगत हर प्रकार के विशेषाधिकारों को समाप्त करके समानता की स्थिति पैदा की जाती है और प्रत्येक के लिए श्रम को अनिवार्य बनाया जाता है। इस प्रकार यह समाजवादी व्यवस्था एक परिवर्तनकारी व सक्रमणकालीन अवस्था है ंजो अन्ततः साम्यवादी व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करेगी। क्योंकि एक आदर्श साम्यवाद व्यवस्था को स्थापित करना ही मार्क्सवाद का उद्देश्य और अंतिम लक्ष्य है।

18.5 राज्य की भूमिका एवं कार्य

इस इकाई के अर्न्तगत हम राज्य के कार्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी

दृष्टिकोण का भलीभांति अध्ययन करेंगे। यद्यपि मार्क्स ने राज्य के कार्य के सम्बन्ध में व्यवस्थित रुप से कोई विचार प्रतिपादित नहीं किया है फिर भी इससे सम्बन्धित जो भी विचार मिलते हैं वे बहुत ही सारगर्भित है।

18.5.1 समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

जैसा कि इससे पूर्व की इकाईयों में हमने पढ़ा कि समाजवादी व्यवस्था एक सक्रमणकालीन व्यवस्था है जो साम्यवाद हेतु मार्ग प्रशस्त करती है। इस अवस्था में राज्य आवश्यक बुराई के रुप में सक्रिय भूमिका निभाता है। सर्वहारा वर्ग इस राज्य के सहयोग से पूँजीवाद के शोषण के अवशेषों को विनष्ट करता है। राज्य के सहयोग से ही सर्वहारा का अधिनायकवाद स्थापित किया जाता है। राज्य समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण कार्य, व्यक्तिगत सम्तत्ति को सार्वजनिक सम्पित्ति में परिवर्तित कर एक समरसतापूर्ण व्यवस्था स्थापित करता है। इसके पश्चात् आगे चलकर राज्य की भूमिका स्वतः खत्म हो जाती है; क्यों कि अब पूँजीपतियों की शोषणवादी मनोवृत्ति का सफाया हो चुका होता है और उत्पादन के समाजीकरण की प्रक्रिया के **अन्तातिं** राज्य का एक मात्र कार्य पूँजीपति वर्ग के शोषणकारी अवशेषों को नष्ट करना ही रहता है।

18.5.2 आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

साम्यवादी अवस्था मार्क्स का अंतिम लक्ष्य है। इस अवस्था में न तो कोई वर्ग होता है और नही ही वर्ग शोषण होता है। इसीलिए राज्य की भी कोई आवश्यकता यहीं होती है। क्योंकि राज्य शोषण का यन्त्र है इसीलिए जहाँ शोषण नहीं होगा वहाँ राज्य भी नहीं होगा। राज्य का कार्य सिर्फ समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही होती है। यहाँ एक आदर्शवादी व्यवस्था स्थापित होती है। लोग अपनी–अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम करते है और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग करते है। इस व्यवस्था में हर व्यक्ति श्रमिक होता है। अतः इस आदर्शवादी व्यवस्था में राज्य का कार्य खत्म हो जाता हैं साथ ही उसका अस्तित्व स्वतः विनष्ट हो जाता है।

18.5.3 राज्य की लुप्त अवस्था

मार्क्स और एजिल्स दोनो यह मानते है कि समाजवादी व्यवस्था (सक्रमणकालीन) के पश्चात जो आदर्श साम्यवादी अवस्था आयेगी उसमें राज्य स्वतः विलुप्त हो जायेगा। शोषणवादी अवषेशों को विनष्ट करने तक ही राज्य का अस्तित्व रहेगा। केवल समाजवाद व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य अधिनायकवादी सर्वहारा वर्ग के हाथों में एक आदर्शव्यवस्था को कायम करने हेतु प्रयाशरत रहता है। इसलिए साम्यवादी–व्यवस्था वर्ग विहीन होने के साथ ही साथ राज्य विहीन भी होगी। एसी ही राज्य विहीन आदर्श समाज व्यवस्था की परिकल्पना महात्मा गाँधी भी करते है।

18.6 राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की समीक्षा

अन्ततः राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का यदि समीक्षात्मक अवलोकन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि राज्य पूँजीपतियों के हाथ में सर्वहारा वर्ग के शोषण का यन्त्र है। जैसा कि ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त के अर्न्तगत राज्य की उत्पत्ति के विकासात्मक स्वरुप को दर्शाते हुए क्रमशः उत्पादन सम्बन्धों के आधार या बदलती हुई राजनीतिक प्रणाली के स्वरुप का निरुपण करता है। आदिम साम्यवादी अवस्था से शुरु हुई राज्य की विकासात्मक यात्रा अन्ततः समाजवादी

व्यवस्था के पश्चात् साम्यवादी व्यवस्था में खत्म होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में जहाँ राज्य के माध्यम से खूब शोषण किया जाता है। वहाँ वर्ग–संघर्ष की स्थिति सदैव बनी रहती है। किन्तु समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अब यही राज्य सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व में पूँजीपतिवर्ग का शोषण करता है। लेकिन इस मार्क्सवादी अधिनायकवादी प्रवृत्ति की घोर आलोचना की जाती है। इस अवस्था के पश्चात् जो आदर्श साम्यवादी अवस्था आती है उसमें श्रम अनिवार्य होता है। और हर व्यक्ति अपनी आवश्यकता अनुसार उपभोग करता है। यहाँ अत्यधिक उत्पादन होता है। यह उत्पादन किसी लाभ के लिए नहीं अपितु सार्वजनिक जीवन–स्तर को ऊँचा उठाने के लिए होता है। यह अवस्था वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन होती है। हर व्यक्ति सुख एवं समृद्धिपूर्ण जीवन यापन करता है। संघर्ष की जगह सहयोग का बोलबाला होता है। किन्तु धर्म को इस अवस्था में नकारात्मक माना जाता है। मार्क्स इसे अफीम के नशे के समान मानता है। अगर गांधीवाद के अन्तर्गत देखा जाय तो यह भी राज्य को शोषण का यन्त्र मानता है परन्तु किसी भी प्रकार के अधिनायकवाद का पूरी तरह विरोध करता है। गाँधीवाद में जहाँ साध्य की अपेक्षा साधन महत्वपूर्ण है वही मार्क्सवाद में साध्य ही सब कुछ है, और उसकी प्राप्ति के लिए साधन चाहे हिंसक हो या अहिंसक। किन्तु दोनों अन्ततः एक ऐसी आदर्श समाज व्यवस्था की कल्पना करते है जहाँ सभी के लिए श्रम अनिवार्य होगा और एक राज्य–विहीन अवस्था स्थापित होगी।

18.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आप लोगों ने राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। राज्य का वर्ग–सिद्धान्त का अध्ययन करते हुए हमने यह जाना कि किस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग का हरसंभव शोषण करता है। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त एवं ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत आदिम सम्यवादी व्यवस्था से लेकर आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था तक राज्य के स्वरुप एवं कार्यों का विस्तार से अध्ययन किया गया। हमने देखा कि जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य बुर्जुआ वर्ग के हाथों शोषण का यन्त्र होता है वहीं मार्क्सवादी समाजवादी व्यवस्था में सर्वहारावर्ग के हाथों में शोषण का यन्त्र बनता है। इस प्रकार इस विस्तृत अध्ययन के पश्चात् हम यह भली–भाँति समझ चुके है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त समूचे विश्व में पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकल्प बनकर उभरा। इसमें सभी वर्गो के कल्याण की भावना निहित है। एक समरसता पूर्ण समाज की स्थापना इसका परम लक्ष्य है। इसमें हर व्यक्ति अपनी–अपनी क्षमता के अनुसार राष्ट्र के समग्र विकास में परिश्रमिक (श्रम द्वारा) योगदान देगा और अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा। इस प्रकार समानता एवं न्याय पर आधारित यह व्यवस्था आज सभी समाजों के लिए अपरिहार्य हो चुकी है।

18.8 शब्दावली

- बुर्जुआवर्ग – पूँजीपति वर्ग
- सर्वहारावर्ग – मजदूर वर्ग
- व्यक्तिगत सम्पत्ति – निजी सम्पत्ति
- राज्य की लुप्त अवस्था – जहाँ राज्य का अस्तित्व नही होगा।

18.9 उपयोगी पुस्तकें

1. लेनिन, वाई. वी. (1973) ''दि स्टेट एण्ड ऐव्यूल्यूशन, प्रोग्रेस प्रकाशन मास्को
2. राल्फ, मिलिबैंड (1977) ''मार्सिज्म एण्ड पोलिटिक्स'' आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. पारिख, भीखू (1978) '' मार्सिज्म थियरी ऑफ दि स्टेट''।
4. वर्मा,के,एन, (''पश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें '' रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ)
5. गावा, ओपी (2003) ''राजनीतिक सिद्धान्त की रुपरेखा'' मयूर पेपर बैक्स प्रकाशन नोयडा।
6. मिलिनैंड, राल्फ (1977),'' मर्सिज्म एण्ड पॉलिटिक्स'' आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।
7. मार्क्स , कार्ल (1977),''इकोनामिक एण्ड फिलॉसफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट 1844' प्रोग्रेस प्रकाशन मास्को।

18.10 सम्बन्धित प्रश्न

(1) मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में मुख्यतः कितने वर्ग थे ?

(A) एक वर्ग

(B) दो वर्ग

(C) तीन वर्ग

(D) चार वर्ग

(2) राज्य के विकासात्मक स्वरुप की पहली अवस्था थी।

(A) दास प्रथा प्रणाली

(B) आदिम साम्यवादी प्रणाली

(C) सामन्तवादी प्रणाली

(D) समाजवादी प्रणाली

(3) मार्क्सवादी के अनुसार आधुनिक साम्यवादी युग में राज्य।

(A) लुप्त हो जायेगा

(B) सुदृढ़ होगा

(C) शोषण का यन्त्र होगा

(D) अधिनायक होगा

18.11 प्रश्नोत्तर

(1) (B) (2) (B) (3) (A)

इकाई 19

राज्य का अराजकतावादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 अराजकतावाद का अर्थ एवं परिभाषा
19.3 अराजकतावाद का विकास
19.4 अराजकतावाद के प्रमुख सिद्धान्त
19.5 अराजकतावाद की आलोचना
19.6 अराजकतावाद और साम्यवाद
19.7 गाँधी जी और अराजकतावाद
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 उपयोगी पुस्तकें
19.11 सम्बन्धित प्रश्न
19.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

व्यक्तिवाद के विपरीत एवं साम्यवाद के समान राज्यविहीन समाज की समर्थक विचारधारा अराजकतावाद का इस इकाई में अध्ययन करके आप –

- अराजकतावाद का अर्थ समझते हुए विभिन्न विचारकों के विचार जान पायेंगे।
- अराजकतावाद के विभिन्न सिद्धांतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पायेंगे।
- अराजकता के राज्यविहीन व वर्गविहीन समाज की रूपरेखा समझ पायेंगे।
- अराजकतावाद व साम्यवाद में अन्तर कर पायेंगे।

19.1 प्रस्तावना

मानव जीवन तथा समाज में राज्य के महत्व के सम्बन्ध में विविध विचारधाराएं प्रचलित हैं उनमें अराजकतावाद एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली विचारधारा है। व्यक्तिवाद और साम्यवाद की भाँति अराजकतावाद भी राज्य का विरोध करने वाली विचारधारा है, परन्तु इसका स्वरूप इन दोनों विचारधाराओं से कहीं अधिक उग्र है। व्यक्तिवाद राज्य के कार्यों को केवल सुरक्षा तथा सुव्यवस्था तक ही सीमित रखना चाहता है वहीं अराजकतावाद राज्य के कार्यों को ही सीमित नहीं करना चाहता वरन् राज्य के अस्तित्व को ही समाप्त कर देना चाहता है। साम्यवाद पूंजीवाद का घोर विरोधी है और क्रान्ति के बाद राज्य को संक्रमणकाल के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के रूप में सुरक्षित रखना चाहते है वहीं अराजकतावादी राज्य का घोर विरोधी है और अराजकतावादियों की क्रान्ति का मुख्य उद्देश्य राज्य का अन्त कर देना है। इस प्रकार अराजकतावाद में

व्यक्तिवाद व साम्यवाद के आदर्शों का सम्मिश्रण है। व्यक्तिवाद से अराजकतावाद ने राज्य के प्रति अविश्वास की भावना तथा व्यक्ति की सहज प्रेरणा के सिद्धान्त को प्राप्त किया तथा साम्यवाद से अराजकतावाद ने निजी सम्पत्ति के प्रति घृणा के भाव को सीखा। प्रस्तुत इकाई में अराजकतावाद के अर्थ, विकास विविध विचारधाराओं के अध्ययन करने के साथ–साथ अराजकतावाद के प्रमुख लक्षणों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करके इस दर्शन को समझ सकेंगे।

19.2 अराजकतावाद का अर्थ एवं परिभाषा

अराजकतावाद (Anarchism) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द 'अनार्किया' (Anarchia) से हुई है, जिसका अर्थ है – शासन का अभाव। अराजकतावाद एक ऐसी विचारधारा है जो प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ता का विरोध करती है। अराजकतावाद के सम्बन्ध में भ्रान्ति है कि यह अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता को प्रोत्साहित करती है परन्तु यह सत्य नहीं है। अराजकतावाद का सम्बन्ध व्यवस्था के अभाव से नहीं, बल्कि शक्ति या दबाव के अभाव से है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो राज्य का पूर्णतः अन्त कर सभी मानव संबंधों में न्याय की स्थापना करना चाहती है तथा यह राज्य के स्थान पर व्यक्तियों, समूहों या समुदायों, क्षेत्रों एवं राष्ट्र के बीच सर्वथा स्वतंत्र एवं स्वाभाविक सहयोग की भी स्थापना करना चाहती है। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य एक अनावश्यक बुराई है, जो नितान्त हानिकारक है और जिसका प्रभाव व्यक्ति पर अत्यन्त विनाशकारी होता है। राज्य संस्था के कारण शासक एवं शासित दोनों का नैतिक का पतन होता है तथा उसके अनुसार राज्य शोषण का एक यंत्र है। उनका मानना है कि मनुष्य स्वाभावतः विवेकपूर्ण, तर्कशील तथा शुभकामना वाला प्राणी है परन्तु राज्य–संस्था या सत्ता के कारण वह भ्रष्ट हो गया है। मनुष्य अपने स्वाभाविक सदाचार, सद्व्यवहार एवं सहानुभूति के कारण राज्य के बिना निर्विरोध विकास कर सकता है। क्रोपोटकिन के अनुसार 'अराजकतावाद राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है। शक्ति और कानून के अभाव में पारस्परिक प्रेम और समझौते के आधार पर शांति और व्यवस्था स्थापित की जायेगी। राज्य के अन्त होने पर उत्पादन एवं उपभोग और नाना प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में अनेक प्रादेशिक एवं व्यावसायिक समुदायों का स्वतः ही जन्म होगा। ये समुदाय आपस में प्रेमपूर्वक समझौते के आधार पर व्यवस्था स्थापित करेंगे। अराजक समाज की व्यवस्था प्राकृतिक एवं स्वाभाविक होगी, उसमें बल का प्रयोग कर किसी को एक विशेष प्रकार का आचरण करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।' हक्सले के अनुसार 'अराजकतावाद समाज की वह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा।' डिकिन्सन ने अराजकतावाद का अर्थ बताते हुए कहा है कि 'यह व्यवस्था का अभाव नहीं वरन् शक्ति का अभाव है। इसका अर्थ–स्वतंत्रता, एकता और प्रेम है।' रूडॉल्फ रॉकर के अनुसार 'अराजकतावाद सामाजिक दर्शन की वह बौद्धिक विचारधारा है जिसमें आर्थिक एकाधिकार तथा राजनीतिक और सामाजिक शोषण की संस्थाएँ नहीं रहेंगी।' कोकर ने अपनी पुस्तक 'रिसेन्ट पॉलिटिकल थॉट' में कहा है कि 'अराजकतावाद वह मत है जहाँ अपने किसी भी रूप में राजनीतिक सत्ता अनावश्यक तथा अवांछनीय है।' तथा आगे उसने यह भी कहा है कि 'हालिया अराजकतावाद में राज्य के प्रति सैद्धान्तिक विरोध को निजी सम्पत्ति की संस्था तथा साथ ही संगठित धार्मिक सत्ता के विरोध को भी शामिल कर लिया गया है।'

अराजकतावाद की विभिन्न विचारकों ने अलग–अलग परिभाषा दी है। हर अराजकतवादी राज्य, शासन तथा किसी भी रूप में सत्ता से घृणा करता है परन्तु

उनमें इस बात पर मतभेद है कि राज्य को किस सीमा तक तथा किन तरीकों से समाप्त किया जाए। इस सम्बन्ध में विचारकों को दो समूहों में विभक्त किया जा सकता है – हिंसात्मक या क्रान्तिकारी अराजकतावादी तथा दार्शनिक या शान्तिपूर्ण या धार्मिक अराजकतावादी। हिंसात्मक या क्रान्तिकारी अराजकतवादी हिंसात्मक साधनों द्वारा अराजकतावादी समाज की स्थापना के पक्षपाती हैं और इस श्रेणी में बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन का नाम आता है। दार्शनिक अराजकतावादी शांतिपूर्ण साधनों के पक्ष में है और हिंसा को अनुचित बताते हैं तथा वैधानिक साधनों के प्रयोग के पक्षपाती हैं। ईसाई क्रान्तिवाद दार्शनिक अराजकतवााद से काफी साम्यता रखता है। दार्शनिक अराजकतावादियों में विलियम गॉडविन, प्रोधों तथा टालस्टॉय के नाम उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में अराजकतावाद वह विचारधारा है जो किसी भी प्रकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करती। उनके अनुसार सभी प्रकार की सरकारें दमनकारी हैं, अतः अवांछनीय होती हैं और इस कारण इनका समाप्त किया जाना ही अच्छा है। अराजकतावाद सभी प्रकार के उत्पीड़न व राजनीतिक सत्ता का तिरस्कार करता है।

19.3 अराजकतावाद का विकास

यद्यपि अराजकतावादी सिद्धान्त का पूर्ण विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, परन्तु इसकी जड़ें प्राचीनकाल में भी दिखायी पड़ती हैं। राज्य सत्ता की औचित्यता सम्बन्धी सन्देह राजनीतिक विचारधारा के प्रारम्भ से ही उठाया जाता रहा है। प्राचीन यूनान के स्टोइक दर्शन में हमें इसका आभास मिलता है। स्टोइक विचारकों में जैनो (Zeno) को अराजकतावाद का मुख्य प्रतिपादक कहा जा सकता है। स्टोइक दार्शनिक ने राजनीतिक संस्थाओं को अनावश्यक मानकर यह कहा कि श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति समुचित रूप से संगठित राज्य में नहीं वरन् ऐसी सामाजिक अवस्था में हो सकती है जिसमें मुनष्य अपनी सामाजिकता तथा न्याय की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके। राज्य का बल प्रयोग अव्यावहारिक तथा निरर्थक है। मध्य युग के कुछ सम्प्रदाय यह प्रचार करते थे कि धर्म उपयुक्त तथा सुव्यवस्थित नागरिक जीवन के लिए पर्याप्त गारण्टी है और जो लोग ईसाई धर्म के संरक्षण में एकत्रित हैं उन्हें उसी धर्म के अन्तर्गत रहने देना चाहिए और उन पर राज्य की ओर से कोई नियंत्रण नहीं होना चाहिए। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में राजतंत्र विरोधी विचारकों के विचारों में भी अराजकतावादी विचार मिल जाते हैं। अठारहवीं सदी के अन्त तक व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके प्राकृतिक अधिकारों पर बल देने वाले साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। फिजियोक्रेटर्स का समाज की प्राकृतिक अवस्था में विश्वास, एडम स्मिथ जैसे विद्वानों द्वारा समर्थित आर्थिक व्यक्तिवादी सिद्धान्त तथा श्रमिकों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने वाला समाजवादी सिद्धान्त अराजकतावादी विचारधारा के प्रेरणा स्रोत हैं।

आधुनिक काल में विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756-1836) प्रथम अराजकतावादी विचारक कहा जाता है। गॉडविन ने 1793 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'एन एक्वायरी कंसर्निंग पोलिटिकल जस्टिस' में राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का खुला विरोध किया। उसने समाज तथा सरकार में अंतर करते हुए समाज को मनुष्य के लिए वरदान तथा सरकार को अभिशाप बताया। उसके अनुसार सरकारें छल–बल, अत्याचार और भ्रष्टाचार का प्रयोग करके मनुष्य–मनुष्य को आपस में लड़ाती हैं। इसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से विवेकयुक्त एवं न्यायप्रिय

होता है और यदि उसके इन गुणों का हनन राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था द्वारा न किया जाये तो वह एक–दूसरे के साथ सहयोग और एकता की भावना से रह सकेगा। उसने क्रान्ति के लिए लोगों को उत्प्रेरित नहीं किया वरन् धीरे–धीरे स्वैच्छिक प्रबंधों की स्थापना कर राज्य समाप्त करने की बात कही है। गॉडविन ने अपने विचारों में यद्यपि अराजकतावाद शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उसका दृष्टिकोण राज्य के प्रति प्रायः वही है, जो आधुनिक अराजकतावादी विचारकों का है। इसके बाद थॉमस हॉजस्किन (Thomas Hodgskinn 1787-1869) ने अराजकतवादी विचारों का समर्थन किया। वह अतिव्यक्तिवादी विचारक था और वह राजनीतिक सत्ता के इतना विरुद्ध नहीं था जितना कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के। फ्रांसीसी विचारक पीयर जोसेफ प्रूधौं (Pierre Joseph Produdhon 1809-1865) ने सर्वप्रथम स्वयं को अराजकतावादी कहा। अपनी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'व्हाट इज प्रापर्टी (What is property) में उसने कहा कि 'सम्पत्ति चोरी है।' इसी पुस्तक में उसने घोषणा की कि मैं पूर्ण अर्थ में अराजकतावादी हूँ। सम्पत्ति को चोरी कहकर उसने यह खोज की कि राज्य का उद्भव निजी सम्पत्ति की प्रणाली से हुआ है जिसे बनाये रखना राज्य का उद्देश्य है। उसने कहा कि मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन प्रत्येक रूप में अत्याचार है। समाज का सबसे उच्चतम रूप सुव्यवस्था और अराजकता का संगम है। उसने राजनीतिक सत्ता की निंदा इस आधार पर की कि इसमें विवेक, न्याय तथा समझदारी पर उद्देश्य का प्रभुत्व निहित है। उसने श्रम मुद्रा जारी करने के लिए 'लोगों के बैंक' की योजना तैयार की। इन बैंकों से बिना ब्याज ही ऋण मिलेगा। उसने मुद्रा सम्बन्धी अनोखा सुझाव दिया। उसके अनुसार नोटों का मापदण्ड श्रम होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने माल के बदले में श्रम नोट प्राप्त होंगे जिनका मूल्य उस माल के उत्पादन में लगाये गये समय द्वारा निर्धारित होगा। वह एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमें व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है, उस पर कोई आर्थिक एवं राजनीतिक बन्धन नहीं है और सहयोग तथा स्वैच्छिक संघों द्वारा उत्पादन एवं सामाजिक व्यवस्था का प्रबन्ध होता है। अमरीकी विचारक थोरियो (Thorean 1817-1862) के विचारों में भी अराजकतावादी विचारों को प्रोत्साहन मिला। वह अपने लेख –सिविल डिसओबीडियन्स' (Civil Disobedience) के लिए प्रसिद्ध है। उसकी भी मान्यता थी मनुष्य स्वभाव से अच्छा होता है अतः राज्य द्वारा उसे नियंत्रित न करके यदि उसे उसके विवेक के आधिपत्य में स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो उसके अधिकतम नैतिक विकास की संभावना है। उसने कहा था 'वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल शासन नहीं करती।' उसने यह भी कहा था कि 'व्यक्ति या तो विधि विधान के अन्तर्गत शासित होता है या उस पर कोई अत्याचारी शासन करता है।'

अराजकतावादी विचारकों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है – व्यक्तिवादी अराजकतावादी तथा साम्यवादी या समूहवादी अराजकतावादी। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी श्रेणी ईसाई अराजकतावादियों की हो सकती है। व्यक्तिवादी अराजकतावाद मुख्य रूप से जर्मनी में फला–फूला। मैक्स स्टरनर (Max Stirner 1806-1856) इसका प्रतिनिधि विचारक है। उसने अपनी रचना 'द इगो एण्ड हिज ओन' में अहंवादी अराजकतावादी होने का प्रमाण दिया। उसके अनुसार व्यक्ति ही एकमात्र वास्तविकता है। व्यक्ति पर यदि कोई कानून लागू होता है तो वह है उसका व्यक्तिगत हित। उसके विचारों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता सबसे महत्वपूर्ण है और व्यक्ति की स्वार्थपरता उसके लिए सबसे उच्च नियम राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोधी है अतः वह कहता है 'मैं तथा राज्य परस्पर एक दूसरे के शत्रु हैं, संपूर्ण संसार एक बंदीगृह है।' स्टरनर के विचार नीत्शे के दर्शन में पुनः प्रकट हुए। उसके दर्शन की विशेषता अतिमानव के अधिकारों का उन्नयन था। अमेरिका में व्यक्तिवादी अराजकतावाद के सिद्धान्त को लोकप्रिय जोशाय वारेन

(Josiah Warren 1799-1814) तथा बेन्जामिन टकर (Benjamin Tucker) ने बनाया। वारेन का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं की ही सरकार होनी चाहिए। राज्य के कानूनों के स्थान पर उन्होंने स्वैच्छिक सहयोग का समर्थन किया तथा बल प्रयोग युक्त राज्य के स्थान पर विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति का समर्थन किया जो विवेक और सहमति से शासन करे, बल प्रयोग से नहीं। बेन्जामिन टकर ने भी राज्य सत्ता का विरोध किया और राज्य को कर संचालन, न्याय प्रशासन और सैनिक सुरक्षा के नाम पर अतिक्रमण का दोषी माना। वे राज्य के स्थान पर ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं का समर्थन करते हैं जिसमें कोई भी स्वेच्छा से सम्मिलित हो सके और स्वेच्छा से अलग हो सके। अमेरिका में अराजकतावादी विचार अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका।

साम्यवादी अराजकतावादियों ने भी वैयक्तिक अधिकारों तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर बल दिया परन्तु उन्होंने स्टरनर के आत्मवादी व्यक्तिवाद का विरोध किया तथा मानवता के विचार को प्रथम स्थान दिया। साम्यवादी अराजकतावादियों में बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। साम्यवादी अराजकवादियों के अनुसार प्रत्येक को अपनी स्वतंत्रता नहीं वरन् अन्य की स्वतंत्रता की आकांक्षा रखनी चाहिए। पारस्परिक सद्‌भाव तथा मानवीय समानता आवश्यक है। परन्तु राज्य एवं सत्ता के प्रति घृणा में वे व्यक्तिवादी अराजकतावादियों के समान थे। साम्यवादी अराजकतावादियों का विश्वास था कि सरकार सदैव विशेषाधिकार तथा भ्रष्टाचार की प्रतिनिधि रही है। अतः उन्होंने राज्य के स्थान पर ऐच्छिक समूहों की स्थापना करना चाहा तथा अपनी इच्छा के परिवर्तनों को लाने के लिए विकासवादी तरीकों की अपेक्षा उनका विश्वास क्रांतिकारी तरीकों में रहा। रूसी अराजकतावादी मिखाइल बाकुनिन (1814—1876) साम्यवादी अराजकतावाद का सर्वोत्तम प्रतिपादक था। वह कोई व्यवस्थित विचारक नहीं था परन्तु उसने समय—समय पर जो विचार प्रतिपादित किए वे अत्यंत प्रभावशाली थे। बाकुनिन ने राजनीतिक सत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म का विरोध किया और अन्ततः उनके लुप्त हो जाने की भविष्यवाणी की। बाकुनिन ने राजनीतिक सत्ता का विरोध करते हुए कहा कि राजनीतिक सत्ता असमान आर्थिक अवस्था को बनाए रखती है तथा मानवीय नैतिकता को दूषित कर देती है। राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के लुप्त होने के बाद पारस्परिकता के आधार पर एक मुक्त समाज की स्थापना होगी। ऐसे समाज में व्यक्तियों की निष्ठा का सिद्धान्त वैधानिक न रहेगा जैसा कि राज्य में होता है बल्कि सहज व स्वैच्छिक होगा। साम्यवादी अराजकतावादी विचारों को आगे बढ़ाने तथा अधिकारिक व्याख्याता का श्रेय रूसी अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन (1842—1921) को जाता है। क्रोपाटकिन के अनुसार राज्य अप्राकृतिक तथा बनावटी है क्योंकि वह मानव की स्वभावतः सहयोगी प्रवृत्तियों तथा मनोवेगों पर प्रतिबन्ध तथा नियंत्रण लगाता है। राज्य के अनेक कानून उस छोटे वर्ग के लाभ के लिए होते हैं जिनका सम्पत्ति पर स्वामित्व होता है। क्रोपाटकिन का मानना था कि राज्य द्वारा सम्पादित किए जाने वाले सभी कार्य स्वयं मानव और उसके ऐच्छिक समूहों द्वारा सम्पादित हो सकते हैं। वह पूंजीवाद व धर्म का भी विरोधी है और उसका विचार है कि धर्म साधारण जनता को पूंजीपतियों का दास बनाए रखने में उनकी सहायता करता है क्योंकि पूंजीपतियों और धर्मगुरूओं के हित एक ही हैं। उसने राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म को विकास मार्ग की बाधा बताते हुए क्रान्ति द्वारा इसके विनाश का समर्थन किया। उसके अनुसार सहयोग और पारस्परिक सहायता द्वारा ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति संभव हो सकती है तथा समाज में न्याय, समानता और सुदृढ़ता स्थापित हो सकती है।

इसाई अराजकतावाद के प्रमुख समर्थक रूसी विचारक, लेखक उपन्यासकार टॉलस्टाय (Tolstoy 1323–1390) थे। टॉलस्टाय ने मानव जीवन के नैतिक पक्ष को महत्व देते हुए राज्य और उसकी समस्त संस्थाओं का विरोध किया। उसने राज्य के नियंत्रण और स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी माना। उसका विचार था कि यदि ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का सच्चाई से पालन किया जाए तो राज्य व सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। पूर्णतया ईसाई अवस्था ही अराजकता की अवस्था है और इसी कारण टॉलस्टाय के विचारों को ईसाई अराजकतावाद कहा जाता है। टॉलस्टाय ने मानव प्रेम की शिक्षा देते हुए बुराई का मुकाबला भलाई से करने का रास्ता दिखाया। टॉलस्टाय का अराजकतावाद हिंसा प्रधान नहीं था और उसके साधन शांतिवाद के साधन हैं।

इसके अतिरिक्त जॉर्ज सॉरेल (1847–1922) ने 1908 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लैकशन्स ऑन वायलेंस' में अराजकतावादी विचार को नया स्वरूप प्रदान किया। उसने न तो मनुष्य की उत्तम प्रकृति को सराहा, न वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बल दिया। उसका मुख्य विषय था कि कामगार वर्ग किस प्रकार पूंजीवादी राज्य को धाराशायी कर सकता है? इसके लिए उसने 'आम हड़ताल' को मुख्य अस्त्र के रूप में प्रस्तुत कर इसे सर्वहारा वर्ग में जागृति लाने का साधन माना। उसने मजदूर संघों को क्रांति के वाहन के रूप में मान्यता दी। सारेल के इस दृष्टिकोण को अराजकतावादी श्रमाधिपत्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

समकालीन अमरीकी दार्शनिक राबर्ट नॉजिक को अर्ध अराजकतावादी कहा जाता है। 1974 में प्रकाशित पुस्तक 'एनार्की, स्टेट एण्ड यूटोपिया' में व्यक्ति को सामाजिकता की धुरी माना। उसके अनुसार समाज, राज्य या अन्य कोई समष्टि व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य निर्धारित नहीं कर सकती। उसके अनुसार कोई भी समष्टि केवल स्वैच्छिक समूहन के रूप में विधि सम्मत हो सकती है और उसने न्यूनतम राज्य शक्ति के प्रयोग को उचित ठहराया। नॉजिक के अनुसार राज्य को अपना कार्य पुलिस बल के कार्य क्षेत्र तक सीमित रखना चाहिए और उसने राज्य के पूर्णतः समाप्ति की बात नहीं कही। अन्य अराजकतावादियों के विपरीत उसने सम्पत्ति के अधिकार को प्रमुख मानव अधिकार मानते हुए राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त रखने का समर्थन किया। मरे बुकचिन ने अपनी चर्चित पुस्तक 'पोस्ट–स्केयर्सिटी एनार्किज्म' में नवीन प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा कि समकालीन समाज में प्रौद्यौगिकी की अपूर्व उन्नति के कारण ऐसे अभाव का युग बीत चुका है जो समाज में कलह और संघर्ष का कारण था। अतः अब राज्य और अर्थव्यवस्था दोनों का विकेन्द्रीकरण संभव हो गया है। मानवता का भविष्य उज्जवल करने हेतु छोटे–छोटे आत्मनिर्भर और स्वाधीन समुदायों का गठन करना चाहिए जिनमें लोग मिलजुल कर रहेंगे और मिल बाँट कर खायेंगे। इनके संगठन में सत्तावाद, श्रेणी तंत्र और अधिकारी तंत्र के प्रयोग की संभावना नहीं होनी चाहिए।

19.4 अराजकतावाद के प्रमुख सिद्धान्त

अराजकतावाद के विकास का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विचारधारा को विभिन्न विचारकों ने अलग–अलग दृष्टिकोण से विकसित किया है। अराजकतावाद में दो मुख्य विचारधाराओं व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। सामूहिक रूप में अराजकतावाद के निम्न प्रमुख सिद्धान्त हैं–

1. **मानव का स्वरूप** – अराजकतावादी मानते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः वह स्वभाव से सहयोगी है। वह विवेकवान है इसलिए समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझता है। व्यक्ति आत्मकल्याण के साथ–साथ दूसरों के हित और समान लाभ का पूरा–पूरा ध्यान रखता है। वह श्रम के प्रति उदासीन नहीं है। परन्तु राज्य, पूंजीवाद तथा धर्म के बन्धनों में जकड़ा होने के कारण वह अपने स्वभाव के अनुसार स्वेच्छा तथा स्वतंत्रता से अपनी नैतिक चेतना के आलोक में कार्य नहीं कर पाता है। फलस्वरूप मानव के स्वाभाविक गुण लुप्त होते जा रहे हैं। अतः व्यक्ति के सर्वांगीण विकास एवं नैतिक स्वरूप के निखार हेतु राज्य, पूंजीवाद तथा धर्म के अस्वाभाविक बन्धनों से मुक्ति आवश्यक है।

2. **राज्य सम्बन्धी विचार** – अराजकतावादी राज्य के घोर विरोधी हैं। क्रोपाटकिन के अनुसार राज्य का न तो प्राकृतिक और न ही ऐतिहासिक औचित्य है। यह मनुष्य की स्वाभाविक सहयोगी प्रवृत्तियों का विरोधी है। अराजकतावादियों ने विभिन्न आधारों पर राज्य का विरोध किया है। विरोध का पहला आधार अस्वाभाविकता का है। क्रोपाटकिन ने ऐतिहासिक आधार पर राज्य का विरोध किया। उसके अनुसार राज्य ने सदैव सुधारों और नवीन विचारों का विरोध किया है। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व भी मनुष्य समूह बनाकर स्वतंत्र और सुखी जीवन व्यतीत करते थे। मानव प्रकृति से विवेकी और तर्कशील है, राज्य उसे पदलोलुप और अनैतिक बना देता है। राज्य की उत्पत्ति का कारण मानव स्वभाव नहीं, वरन् वर्गभेद है और यदि वर्गभेद न रहे तो राज्य की आवश्यकता नहीं होगी। बाकुनिन के अनुसार सत्ता सत्ताधारियों और सत्ता मानने वालों को समान रूप से भ्रष्ट करती है। धीरे–धीरे होने वाले इसके प्रभाव से कुछ लोग लालची व महत्वाकांक्षी निर्दयी शासक बन जाते हैं और अपने या अपने वर्ग के हितों के लिए समाज का शोषण करते हैं, जबकि और लोग उसके दास बनकर रह जाते हैं। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक बताते हैं। राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों देश की सुरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण, शिक्षा आदि को यदि स्वतंत्र संघों को दे दिया जाये तो उनका सम्पादन अधिक सफलता से हो सकता है। उनके अनुसार यदि श्रमिकों को स्वयं सुशिक्षित होने के लिए समुचित अवसर दे दिया जाये तो वे अन्य को शिक्षित करने के लिए भी उत्सुक रहेंगे। परिणामस्वरूप अनेक ऐच्छिक समितियों के उद्‌भव के साथ सर्वोत्तम शिक्षा के लिए स्पर्धा चलती रहेगी। वाह्य आक्रमण से रक्षा हेतु राज्य की अनावश्यकता को क्रोपाटकिन ने इस प्रकार सिद्ध किया है। स्थायी सेनाएँ सदैव ही आक्रान्ताओं द्वारा परास्त होती रही हैं और इतिहास की दृष्टि से उन्हें देश के बाहर निष्कासित करने में जनक्रान्तियाँ अधिक सफल हुई हैं। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य आंतरिक सुरक्षा कार्य में भी असफल रहा है। व्यक्तियों की अवांछनीय तत्वों से रक्षा करने की अपेक्षा राज्य अवांछनीय तत्वों की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार वह व्यक्तियों को अपराध करने के लिए मजबूर करता है। राज्य के वर्गीय चरित्र एवं आर्थिक दृष्टिकोण से भी अराजकतावादी राज्य का विरोध करते हैं। पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग के शोषण एवं दमन के लिए राज्य रूपी साधन का उपयोग करता है। अराजकतावादियों का मानना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के गर्भ से जन्म लेकर राज्य ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही बढ़ावा दिया है। राज्य पूंजीवाद और शोषण का पक्ष लेता है तथा श्रमिकों के साथ अन्याय करता है। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति नष्ट हो जाय तो झगड़ों के निपटारे के लिए

न्यायालयों की आवश्यकता नहीं रहेगी तथा कानून व्यवस्था भी अनावश्यक होगी। अराजकतावादियों के अनुसार सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ अनावश्यक हैं। क्रोपाटकिन के अनुसार 'सभी कुछ प्रत्येक का है और यदि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में अपना योगदान देता है तो उन्हें सेवा द्वारा उत्पादन में से हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।' परन्तु सरकार का अब तक कार्य यह सुनिश्चित करना रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा गलत है। अतः सरकार अनावश्यक है। यही कारण है कि अराजकतावादी समाज सरकार–विहीन समाज होगा। इस प्रकार के समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता के आदेशों का पालन करने के लिए समर्पण करना आवश्यक नहीं होगा। ऐसे समाज में सामंजस्य उत्पादन तथा उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिए स्वतंत्र रूप से संगठित, विभिन्न क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक समूहों की ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र समझौते की नीति से उत्पन्न होगा।

3. **पूंजीवाद और व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार –** अराजकतावादी पूंजीवाद के कट्टर विरोधी हैं और इसे प्राकृतिक न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं। अतः वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के भी विरोधी हैं। उनका मानना है कि पूंजीवाद तथा शोषण एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। साम्यवादियों की भाँति श्रम को मूल्य का आधार मानते हुए अराजकतावादी यह कहते हैं कि किसी वस्तु से जो लाभ होता है वह श्रमिकों को ही मिलना चाहिए किन्तु व्यवहार में पूंजीपति इसे प्राप्त करता है। प्रौधां ने अपने प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ 'व्हाट इज प्रापर्टी' में सम्पत्ति को चोरी कहा है। अराजकतावादी व्यक्ति को सरकार द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता का कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति को मानते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति अनेक प्रकार के भौतिक एवं नैतिक दोषों को उत्पन्न करती है। इसके कारण श्रमिकों में आर्थिक निर्भरता, कठिन श्रम, अज्ञानता, सामाजिक तथा आध्यात्मिक निश्चलता, अभाव तथा गरीबी अल्पविकसित बच्चे तथा ऋण से ग्रसित कृषक उत्पन्न होते हैं परन्तु पूंजीपति जिनका इस पर स्वामित्व होता है उनमें यह अत्यधिक विलासिता, अकर्मण्यता तथा कलात्मक एवं बौद्धिक आनन्द उत्पन्न करती है। अपनी प्रकृति से ही यह न्याय के विपरीत है क्योंकि एक अल्पमत उन लोगों पर प्रभुत्व करता है जो बहुसंख्यक हैं। गॉडविन का कहना था कि विधि निर्माण लगभग सभी देशों में धनवानों के पक्ष में तथा निर्धनों के विपक्ष में होता है अतः व्यक्ति सम्पत्ति का अन्त करने हेतु राज्य की समाप्ति आवश्यक है।

4. **धर्म सम्बन्धी विचार –** अराजकतावादी धर्म तथा 'ईश्वर' के नाम के कट्टर विरोधी हैं क्योंकि उनके अनुसार पूंजीपति इसका दुरूपयोग करके सामाजिक अन्याय की व्यवस्था को बनये रखना चाहते हैं। उनके अनुसार धर्म में आकर मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है और वह भाग्यवादी हो जाता है। धर्म दोष है क्योंकि वह बुरी संस्थाओं को मान्यता देता है और मानव के मूल स्वभाव का विरोधी है। क्रोपाटकिन ने वैज्ञानिक तथा प्राकृतिक दोनों आधारों पर धर्म को अस्वीकार किया है। यह मनुष्य की अज्ञानता तथा अंधविश्वास का सहारा लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक ढ़ाँचे से होने वाले अन्याय को सहने की क्षमता विकसित करता है। बाकुनिन के अनुसार 'सब निरंकुश शासन–प्रणालियों में खोखले सिद्धान्तवादी और धर्मान्धों का निरंकुश शासन सबसे अधिक खराब होता है।' बाकुनिन ने तो

यहाँ तक कहा कि 'ईश्वर बहुत कुछ जार के समान था और जार ईश्वर के समान था, दोनों ही अत्याचारी थे। इस प्रकार अराजकतावादी धार्मिक विश्वास को समाप्त कर उसका स्थान ज्ञान और विज्ञान को देना चाहते थे।

5. **प्रतिनिधि शासन के सम्बन्ध में विचार –** राज्य तथा सरकार के विरोधी अराजकतावादी न केवल राजतंत्र, कुलीन तंत्र वरन् प्रतिनिध्यात्मक सरकार की भी आलोचना करते हैं। क्रोपाटकिन का यह विश्वास था कि निरंकुश राजतंत्र से संसदीय शासन में परिवर्तन ने राज्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं किया है। सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित प्रतिनिधि प्रणाली व्यवहारिक नहीं है। इसमें जनता द्वारा कुछ ऐसे व्यक्तियों को निर्वाचित करके एक निश्चित अवधि के लिए जनता की इच्छाओं को कार्यान्वित करने का दायित्व सौंपा जाता है। परन्तु सत्यता यह है कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और अनेक व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस व्यवस्था में जनता द्वारा प्रतिनिधियों का निश्चित अवधि हेतु निर्वाचन जनता को स्वामी का पद प्रदान करता है परन्तु सत्यता यह है कि एक बार निर्वाचित होने के पश्चात् प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की परवाह नहीं करते और राजनीतिक स्वामी बन जाते हैं। अराजकतावादियों के अनुसार प्रतिनिधि शासन व्यवस्था उन व्यक्तियों के द्वारा चलायी जाने वाली शासन व्यवस्था है जो प्रत्येक वस्तु के बारे में मात्र इतना जानकारी रखते हैं कि वह उन्हें प्रत्येक कार्य को खराब ढंग से ही करने की क्षमता प्रदान करती है।

6. **सत्ता–सम्बन्धी विचार –** अराजकतावादी सत्ता का विरोध करते हुए कहते हैं कि सत्ता का प्रयोग व्यक्ति को स्वार्थी, घमण्डी, दमनकारी अमानवीय बनाता है। यदि सत्ता न दी गई होती तो घृणित मंत्री एक श्रेष्ठ मानव होता। बल का तत्व ही सामाजिक एकता को समाप्त करता है। विरोधी समूहों, वर्गों राष्ट्रीयताओं में स्वार्थी राजनीतिज्ञों द्वारा बल प्रयोग से ही मानवता विखण्डित होती है। राजनीतिज्ञ अपनी दुष्ट प्रकृति के कारण नहीं वरन् अपनी स्थिति के कारण होता है। वह इसलिए दुष्ट नहीं होता क्योंकि वह मनुष्य है बल्कि इसलिए कि वह राजनीतिज्ञ है। वह जिस पद पर है उस पद की शक्तियों का प्रयोग उसे भ्रष्टाचारी, स्वार्थी, अहंकारी तथा अत्याचारी बना देता है। अतः किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को अपने साथियों पर शासकीय सत्ता नहीं होनी चाहिए।

7. **समाज सम्बन्धी विचार –** अराजकतावादी राज्यविहीन एवं वर्गहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य रखते हैं। वर्गवादी व्यवस्था को उत्पन्न एवं प्रोत्साहित करने का कार्य राज्य के द्वारा ही किया गया है और मानव समाज में व्याप्त सभी बुराईयों की जड़ राज्य और वर्गवादी व्यवस्था ही है। अराजकतावादी इस वर्गवादी व्यवस्था को समाप्त कर एक ऐसे सहकारी समाज की स्थापना करना चाहते हैं जो एक संयुक्त परिवार के समान जीवन व्यतीत करे। इसमें एक सबके लिए और सब एक के लिए जीवित रहेंगे और किसी भी आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होगा। समाज में वर्ग और व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाप्त होने से पारस्परिक संघर्ष के स्थान पर स्वतंत्रता, समानता और सहयोग पर आधारित वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। अराजकतावादी अपने आदर्श समाज

में व्यवस्था और प्रबन्ध के विकेन्द्रीकरण पर बल देते हैं और चाहते हैं कि समाज का पुननिर्माण स्थानीय संस्था एवं संघों के आधार पर हो जो पुनः विशालतर संगठनों में संयुक्त होकर एक देशव्यापी संगठन का रूप धारण कर ले। इस प्रकार अराजकतावाद समाज को स्वतंत्र संघों में संगठित व संघात्मक रूप देना चाहता है। अराजकतावादी एक ऐसे नवीन समाज की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक प्रकार की सत्ता का अभाव हो। अराजकतावाद मनुष्य को मुक्त करना चाहता है– उत्पादन के रूप में पूंजीपति के बन्धन से, नागरिक के रूप में राज्य के बन्धन से तथा व्यक्ति के रूप में उस धार्मिक नैतिकता की सत्ता से जो कि काल्पनिक, आध्यात्मिक तत्वों जैसे कि एक सर्वशक्तिमान ईश्वर से ली गयी है।

8. **कार्य विधि सम्बन्धी विचार –** अराजकतावादियों द्वारा प्रतिपादित राज्य रहित, वर्गरहित तथा धर्मरहित समाज की स्थापना कैसे होगी, इस सम्बन्ध में अराजकतावादियों के विचारों में भिन्नता है। दार्शनिक अराजकतावादियों को अहिंसात्मक साधनों–समझाने, विचार–विनिमय तथा प्रचार में विश्वास है तो क्रान्तिकारी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते हैं। दार्शनिक अराजकतावादियों का विश्वास है कि एक बार राज्य सत्ता से उत्पन्न संकट तथा राज्य सत्ता की अनुपयोगिता के साथ अराजकतावादी समाज की आवश्यकता तथा श्रेष्ठता व्यक्तियों को समझ में आ जायेगी तो वे स्वतः ही अराजकतावादी समाज में लग जायेंगे। परन्तु क्रान्तिकारी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों द्वारा अराजकतावादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। उनके अनुसार क्रान्ति की ज्वाला नगरों से प्रारम्भ होकर गाँवों की ओर बढ़नी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर शक्ति व बल का भी प्रयोग करना चाहिए। क्रोपाटकिन के अनुसार सबका कल्याण संसद द्वारा निर्मित कानूनों से नहीं वरन्, उन सब पर तुरन्त और प्रभावशाली आधिपत्य करके किया जा सकता है।

19.5 अराजकतावाद की आलोचना

1. अराजकतावादियों द्वारा राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज की कल्पना आदर्शवादी अधिक और व्यवहारिक कम है। अराजकतावादियों का यह विचार भी स्वीकृति योग्य नहीं है कि उनके समाज में व्यक्ति अपनी स्वार्थी और प्रतिस्पर्धी भावनाओं का त्याग कर अचनाक सहयोगी और सामाजिक बन जायेगा। यह भी कहाँ तक सम्भव है कि प्रस्तावित अराजकतावादी समाज में विद्यमान ऐच्छिक समूहों में परस्पर संघर्ष नहीं होंगे।

2. मानव स्वभाव सम्बन्धी अराजकतावादी धारणा उचित नहीं है। अराजकतावादियों ने मानव स्वभाव के एकपक्ष सामाजिक एवं सहयोगी प्रवृत्तियों पर ही ध्यान देते हैं तथा स्वार्थी व प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्तियों की उपेक्षा करते हैं। मनुष्य को निःस्वार्थी मानना न केवल तथ्यों को अस्वीकार करना है वरन् मानव मनोविज्ञान के सिद्धान्त के विपरीत है। मानव में दुर्गुणों के लिए राज्य तथा उसके कानून को उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है क्योंकि अधिकांश कानून दोषों के जनक नहीं, सुधारक होते हैं। फिर भी यदि मनुष्य को विविध गुणों से युक्त स्वीकार कर भी लिया जाय तो फिर वही मानव दुराचारी और स्वार्थपूर्ण कैसे हो सकता है?

3. स्वतंत्रता के सम्बन्ध में भी अराजकतावादियों की धारणा त्रुटिपूर्ण है। राज्य के कानून द्वारा स्वतंत्रता सीमित होती है–इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। स्वतंत्रता बन्धनों का अभाव नहीं है वरन् कानूनों द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा की जाती है। अतः अराजकतावादियों द्वारा असीमित तथा निर्बाध स्वतंत्रता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

4. अराजकतावादियों की राज्य सम्बन्धी अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण है। राज्य एक अनावश्यक बुराई नहीं है। राज्य व्यक्तियों में दुर्गुणों का विकास नहीं करता है। राज्य की प्रत्येक विधि अनिवार्य रूप से शोषणकारी नहीं होती है। तथ्य यह है कि राज्य के बहुत से कार्य मानवीय एवं कल्याणकारी प्रवृत्ति के होते हैं। उदाहरण के लिए अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा जनता की भलाई के लिए आरम्भ किया गया है न कि राज्य द्वारा शोषण एवं दमन हेतु। अराजकतावादियों का यह विश्वास कि समाज में अपराधों का कारण राज्य है उचित नहीं है। राज्य कुछ व्यक्तियों की आपराधिक गतिविधियों को नियंत्रित व समाप्त करता है। राज्य के अभाव में जिसकी लाठी उसकी भैंस कहावत चरितार्थ होगी। यदि समाज कानून लागू करने वाली संस्था से विहीन होगा तो कोई भी अच्छा व्यक्ति उस समाज में नहीं रह सकता। सरकार के विकल्प के रूप में अराजकतावादियों द्वारा स्वैच्छिक समूहों की व्यवस्था गम्भीर एवं जटिल समस्याओं का निराकरण कर पायेंगी यह भी सन्देहास्पद है।

5. अराजकतावादियों की धर्म सम्बन्धी अवधारणा कि यह उन लोगों के हाथों में है जिनके पास आर्थिक व राजनीतिक सत्ता है, यह गरीबों के शोषण का साधन है, उचित नहीं है। धर्म मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में इतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि दिन–प्रतिदिन का जीवन। अतः धर्म समाज का अभिन्न अंग है। धर्म का दुरुपयोग करने वाले धर्म गुरु और कार्यकर्ता को बुरा कहा जा सकता है धर्म को नहीं।

6. व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी अराजकतावादियों की धारणा उचित नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति में दुर्गुण नहीं वरन् अपनेपन व उत्तरदायित्व की भावना को जन्म देती है। इससे प्रतिस्पर्द्धा का जन्म होता है जिसके अभाव में जीवन नीरस हो जायेगा।

7. अराजकतावादियों द्वारा हिंसात्मक साधनों का समर्थन उचित नहीं है क्योंकि हिंसा हिंसा को जन्म देती है और इससे जन व धन दोनों की हानि होने की सम्भावनाएं बनी रहती हैं।

19.6 अराजकतावाद तथा साम्यवाद

राज्यविहीन और वर्ग विहीन समाज के समर्थक अराजकतावादी विचारकों में थोड़ी बहुत भिन्नता है। इसीलिए अराजकतावादी विचारकों को दो प्रमुख समूहों में बाँटा गया है – व्यक्तिवादी अराजकतावादी और साम्यवादी अराजकतावादी। मार्क्स के समकालीन बाकुनिन को साम्यवादी अराजकतावादी विचारधारा और आन्दोलन का प्रणेता माना जा सकता है। बाकुनिन के पश्चात् प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराकतावादी विचारधारा और आन्दोलन के विकास में योगदान दिया। अराजकतावाद और साम्यवाद प्रायः एक दूसरे के पूरक कहे जाते हैं और दोनों ही विचारधारा का लक्ष्य वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है। साम्यवाद में ऐसे समाज की स्थापना के साधनों का उल्लेख किया गया है परन्तु

समाज की व्यवस्था के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। अराजकतावादी साधनों का विशेष उल्लेख नहीं करते हैं परन्तु उस व्यवस्था का विस्तार से उल्लेख करते हैं, जो राज्य और वर्गों का अन्त के बाद समाज में स्थापित होगी। इस प्रकार साम्यवाद का सम्बन्ध विशेषकर साधनों से है जबकि अराजकतवाद का सम्बन्ध लक्ष्य से है। जोड के अनुसार 'यह एक ही पूर्ण वस्तु के दो भाग हैं'। साम्यवाद व अराजकतावाद की तुलना की जाय तो दोनों में कुछ साम्यता है तो कुछ असमानताएँ भी हैं।

समानताएँ – अराजकतावाद व साम्यवाद में निम्नलिखित समानताएँ हैं :–

1. राज्य के सम्बन्ध में दोनों ही विचारधाराओं के दृष्टिकोण समान हैं। दोनों ही राज्य को व्यक्ति के लिए अहितकर मानते हैं, साम्यवाद राज्य का विरोध पूंजीवाद का सहायक होने के कारण करते हैं अर्थात् राज्य सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है जबकि अराजकतावादियों के विरोध का आधार व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन है।

2. अराजकतावाद और साम्यवाद दोनों ही पूंजीवाद का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि पूंजीवाद श्रमिकों के श्रम से उत्पन्न धन की चोरी पर पर आधारित है।

3. साम्यवादियों ने राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए साधनों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा कि पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के दो वर्ग होते हैं जिनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। वे श्रमिक वर्ग की हिंसात्मक क्रान्ति को प्रोत्साहित करते हैं। अराजकतावादी विचारक भी प्रायः साम्यवादियों के इन साधनों में विश्वास रखते हैं।

4. अराजकतावादी तथा साम्यवादी दोनों ही लोकतंत्र की प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली तथा संसदात्मक व्यवस्था का विरोध करते हैं। दोनों ही इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि लोकतंत्र में जनता के प्रतिनिधि कहे जाने वाले ये लोग वास्तव में जनता के प्रतिनिधि नहीं होते हैं इस प्रकार इन दोनों ही विचारधाराओं का लोकतंत्र में कोई विश्वास नहीं है।

5. दोनों ही विचारधाराएं समान रूप से धर्म–विरोधी हैं और उनका विचार है कि धर्म मानव को भाग्यवादी और अकर्मण्य बनाकर व्यक्ति के प्रगतिपथ में बाधा उत्पन्न करने का कार्य करता है।

6. साम्यवादी उस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं करते जो वर्गों और राज्य के अन्त के बाद होगी। अराजकतावादी ने इस सम्बन्ध में कुछ विचार किया और स्वैच्छिक समुदायों को व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज में न्याय व व्यवस्था की स्थापना के लिए उत्तरदायी बताया है। साम्यवादी अराजकतावादियों द्वारा वर्णित सामाजिक व्यवस्था को समर्थन देते हैं।

असमानताएँ – समानताओं का उल्लेख करने के पश्चात् दोनों विचार–धाराओं के मध्य निम्न अन्तर हैं :–

1. अराजकतावाद का मुख्य शत्रु राज्य और गौण शत्रु पूंजीवाद है जबकि साम्यवाद का मुख्य शत्रु पूंजीवाद है और गौण शत्रु राज्य है। इसीलिए साम्यवाद पूंजीवाद का अन्तर कर अन्तरिम रूप में 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व' के द्वारा कुछ समय के लिए राज्य के अस्तित्व को स्वीकार

करता है परन्तु अराजकतावाद पूंजीवाद और राज्य दोनों को एक साथ समाप्त करना चाहता है।

2. साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का कट्टर विरोधी है जबकि, सभी अराजकतावादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी नहीं हैं। अराजकतावादी विचारकों के दो समूह हैं–व्यक्तिगत अराजकतावादी जो व्यक्तिगत सम्पत्ति को बनाये रखना चाहते हैं और दूसरे साम्यवादी अराजकतावादी जो व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करते हुए इसे सामाजिक कल्याण के लिए ऐच्छिक समूहों को सौंपना चाहते हैं।

3. साम्यवादी लक्ष्य प्राप्ति के लिए केवल हिंसात्मक साधनों में विश्वास करते हैं जबकि अराजकतावादी हिंसा के साथ–साथ जनता को अराजकतावादी दर्शन से सम्बन्धित शिक्षा भी देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अराजकतावाद साम्यवाद साधनों के सम्बन्ध में अधिक तर्कसंगत है।

4. अराजकतावाद के आदर्श को आज तक व्यवहारिक रूप में किसी भी देश में क्रियान्वित नहीं किया जा सका है, किन्तु इसके विपरीत साम्यवाद को व्यावहारिक रूप में अंगीकृत किया गया है।

5. अराजकतावादियों की तरह मार्क्सवादी क्रान्ति के पश्चात् धर्म संगठनों को बलपूर्वक समाप्त करने में विश्वास नहीं रखते हैं वरन् धीरे–धीरे विज्ञान और भौतिकवादी द्वन्दवाद के प्रचार द्वारा धार्मिक अंधविश्वासों को मिटाना चाहते हैं।

इस प्रकार अराजकतावाद व साम्यवाद में समानता और असमानताएं हैं। दोनों में राज्यविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना के आदर्श में समानता है परन्तु उसकी प्राप्ति के साधन व क्रियान्वित में अन्तर है।

19.7 गाँधीजी और अराजकतावाद

जहाँ तक भारतीय राजनीतिक विचारों के परिदृश्य में अराजकतावादी विचारों की बात है प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों में राज्यविहीन समाज की कल्पना की गयी है वहीं आधुनिक विचारों में गाँधी जी के विचार अराजकतावादी विचारों से प्रभावित लगते हैं। जयप्रकाश नारायण एवं आचार्य बिनोबा भावे के विचारों में भी अराजकतावाद का प्रभाव दिखायी देता है। मनु में मनुस्मृति में एक ऐसे समाज की कल्पना की है जो अराजकतावादी विचारों के समीप है।

गाँधी जी के विचारों पर दार्शनिक अराजकतावादी थोरो तथा लियो टॉलस्टाय का प्रभाव था। थोरों के विचार से प्रभावित गाँधी जी ने कहा कि 'मैं इस आदर्श को हृदय से स्वीकार करता हूँ कि वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल शासन नहीं करती।' गाँधी जी ने राज्य के व्यापक कार्यक्षेत्र का समर्थन नहीं किया और वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य स्वयं करे। वे ग्राम–स्तर पर स्वेच्छा से प्रेरित सहयोग पर बहुत जोर देते थे। उनका कहना था कि राज्य द्वारा बहुत अधिक काम किये जाने से जनता द्वारा पहल करना समाप्त हो जाता है और भ्रष्टाचार एवं परिवाद को प्रोत्साहन मिलता है। दार्शनिक अराजकतावादियों की भाँति गाँधी जी का भी विश्वास था कि बातों को जबरदस्ती मनवाने वाला राज्य का स्वरूप वैयक्तिक काम को नैतिकता से अलग कर देता है। जब मनुष्य मशीन की तरह काम करते हैं तो नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। थोरो के समान गाँधी जी राज्य को आत्माहीन मशीन मानते थे। यंग इण्डिया (2 जुलाई, 1931) में उन्होंने

लिखा 'इस तरह के (अराजकतापूर्ण) राज्य में हर व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपना काम इस प्रकार से करता है कि उसके किसी काम से उसके पड़ोसी को कभी किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। इसलिए आदर्श राज्य में राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि राज्य ही नहीं होता'। यद्यपि गाँधी जी का झुकाव दार्शनिक अराजकतावाद की ओर था परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण वे कट्टरतापूर्वक उन पर अडिग नहीं रहते थे। वे चाहते थे कि राज्य कम से कम काम करे और अपने अधिकाधिक कार्य स्वेच्छाप्रेरित संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दे। गाँधी जी का विश्वास था कि राज्य हिंसा पर आधारित होता है, गरीबों का शोषण करता है और अपनी बात लोगों पर जबरदस्ती लादकर व्यक्ति के स्वशासन क्षेत्र को कम करता है इसलिए अहिंसा पर आधारित राज्य कम से कम शासन और कम से कम शक्ति का प्रयोग करेगा। जनता के नैतिक स्तर के धीरे–धीरे उठने के साथ–साथ राज्य के कार्य कम होते जायेंगे और एक दिन ऐसा आयेगा कि राज्य का अन्त होकर स्वनियंत्रित और नियमित अराजकता का उदय होगा। गाँधी जी ने राज्य के साथ संसदीय लोकतंत्र, राजनीतिक दलों और चुनाव आदि का भी विरोध किया। गाँधी जी ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया क्योंकि उनके अनुसार उपर्युक्त बल प्रयोग के अभाव में केन्द्रीकरण को बनाये रखना संभव नहीं है।

इस प्रकार गाँधी जी की विचारधारा में पश्चिमी अराजकतावादी विचारधारा में कुछ न कुछ समानता अवश्य है परन्तु पूर्णतया गाँधी जी को अराजकतावादी नहीं कहा जा सकता है।

19.8 सारांश

ग्रीक भाषा के शब्द 'Anarchia' जिसका अर्थ शासन का अभाव है, से अराजकतावाद का जन्म हुआ है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ता का विरोध करता है परन्तु इसका सम्बन्ध व्यवस्था के अभाव से नहीं है। अराजकतावादी राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानते हैं जिससे शासक एवं शासित दोनों का नैतिक पतन होता है। अराजकतावाद को विचारकों ने अलग–अलग परिभाषा दी है सभी राज्य को समाप्त करना चाहते हैं परन्तु किस सीमा तक तथा किन साधनों द्वारा इस सम्बन्ध में उनमें मतभेद है। एक समूह दार्शनिक अराजकतावादियों का है जो शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक साधनों में विश्वास करते हैं उनमें विलियम गॉडविन, प्रोधों तथा टालस्टॉय के नाम प्रमुख हैं जबकि क्रान्तिकारी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों में विश्वास करते हैं। बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन इसी श्रेणी के विचारक हैं। अराजकतावाद का बीजारोपण स्टोइक विचारक जैनो (Zeno) के विचारों में हो चुका था और विलयम गॉडविन प्रथम आधुनिक विचारक माना जाता है। अराजकतावादियों के दो समूह हैं व्यक्तिवादी तथा साम्यवादी या समूहवादी तथा तीसरी श्रेणी ईसाई अराजकतावादियों की कही जा सकती है। व्यक्तिवादी विचारधारा जर्मनी में मैक्स स्टरनर तथा अमेरिका में जोशाय वारेन और बेन्जामिन टकर के विचारों से प्रस्फुटित हुयी। साम्यवादी अराजकतावादियों में बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अराजकतावादी मानव विवेक में विश्वास करते हैं तथा राज्य का विविध आधारों पर विरोध करते हैं। पूंजीवाद को ये प्राकृतिक न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं तथा धर्म या ईश्वर के नाम को पूंजीपतियों द्वारा दुरुपयोग का आधार मानते हैं। प्रतिनिधि शासन का विरोध करते हुए सत्ता का भी विरोध करते हैं क्योंकि सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट बनाती है। अराजकतावादी ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक प्रकार की सत्ता का अभाव हो। परन्तु अराजकतावादी विचारधारा आदर्श

अधिक और व्यावहारिक कम है। स्वतंत्रता तथा राज्य सम्बन्धी अवधारणा त्रुटिपूर्ण है। अराजकतावाद व साम्यवाद दोनों ही राज्य व पूंजीवाद का विरोध करते हैं तथा लोकतंत्र तथा संसदात्मक व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं। दोनों ही विचारधारा धर्म विरोधी हैं परन्तु फिर भी दोनों में कुछ असमानताएं हैं। साम्यवाद का मुख्य शत्रु पूंजीवाद है जबकि अराजकतावाद का मुख्य शत्रु राज्य है। साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी हैं जबकि अराजकतावदी सभी विचारक इससे सहमति नहीं रखते। साम्यवाद हिंसात्मक साधनों में विश्वास करता है जबकि अराजकतावादी कुछ विचारक हिंसात्मक तथा कुछ अहिंसात्मक साधनों के समर्थक हैं। जहाँ तक भारतीय परिदृश्य की बात है गाँधी जी के विचारों में प्रमुख रूप से अराजकतावादी विचारों के दर्शन होते हैं। राज्य हिंसा पर आधारित है इसलिए गाँधी जी ने राज्य का विरोध किया। वे राज्य के कम से कम काम करने के पक्ष धरे थे। गाँधी जी का झुकाव दार्शनिक अराजकतावाद की ओर अधिक था परन्तु उन्हें पूर्ण अराजकतावादी नहीं कहा जा सकता।

19.9 शब्दावली

शोषण – किसी व्यक्ति को अपने हित व स्वार्थ हेतु मजबूर करना अथवा किसी व्यक्ति व समूह का अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग।

व्यक्तिवाद – एक ऐसा सिद्धान्त जो व्यक्ति को महत्व देता है तथा उसकी स्वतंत्रता व स्वायत्ता का गुणगान करता है, एक सीमित प्रकार के राज्य का प्रतीक।

साम्यवाद – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का एक उच्चतम रूप जिसमें जहाँ एक ओर पूंजीवाद का अंत होता है वहीं दूसरी और पूरी तरह समाजवाद की स्थापना की जाती है, प्रत्येक व्यक्ति को कार्यों के अनुसार उसकी जरूरतों की पूर्ति।

सामाजिक न्याय – एक ऐसी आदर्श व्यवस्था जहाँ एक समाज में सभी सदस्यों को एक समान सारयुक्त अधिकार, सामाजिक लाभ, समानांतर वितरण आदि उपलब्ध होते हैं।

नौकरशाही – कर्मचारियों का शासन, प्रशासनिक यंत्र, राज्य का लोक प्रशासकों द्वारा प्रशासन

पूंजीवाद – एक आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था जिसमें राज्य के उद्योग एवं व्यापार को निजी मालिकों द्वारा लाभ हेतु नियंत्रित किया जाता है।

19.10 उपयोगी पुस्तकें

1. अम्बादत्त पंत, मदन गोपाल गुप्ता, हरिमोहन जैन (2004), राजनीति शास्त्र के आधार, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद – संशोधित संस्करण।
2. डॉ. पुखराज जैन एवं बी.एल. फाड़िया राजनीतिक सिद्धान्त पारम्परिक और समकालीन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
3. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
4. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
5. Atindranath Bose (1976), A History of Anarchism, World Press, Calcutta.

6. Joad C.E.M. (1973) Introduction to Modern Political Theory Oxford University Press, Delhi
7. Russel, Bertrand (1949), Authority and the Individual, George Allen and Unwin Ltd., London

19.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) अराजकता का अर्थ बताते हुए उसके सिद्धान्तों का विश्लेषण करें।

(ब) अराजकता के विकास का विश्लेष्ण करें।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) अराजकता एवं समाजवाद में समानता का विश्लेषण करें।

(ब) गाँधी जी के अराजकतावादी विचारों का संक्षेप में वर्णन करो।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) 'व्हाट इज प्रापर्टी' किसकी रचना है।

(v) प्रौधाँ
(vi) बाकुनिन
(vii) क्रोपाटकिन
(viii) स्टरनर

(ब) 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदइन' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(v) बाकुनिन
(vi) क्रोपाटकिन
(vii) टॉलस्टाय
(viii) प्रौधाँ

(स) निम्न में से अहम्वादी अराजकतावाद से किसका संबंध है –

(v) स्टरनर
(vi) प्रौधाँ
(vii) बाकुनिन
(viii) गॉडविन

(द) निम्न में से कौन सा राजनीतिक विचारक अराजकतावादी दर्शन का समर्थक है?

(v) लॉस्की
(vi) फ्रीमैन
(vii) स्पेन्सर
(viii) प्रिन्स क्रोपाटकिन

(य) निम्न में से कौन सा कथन अराजकतवादी सिद्धान्त की आलोचना है?

(v) राज्य अक्सर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है।
(vi) राज्य की समाप्ति 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' को चरितार्थ करता है।
(vii) राज्य के अन्त से अपराधों में कमी आयेगी।
(viii) आधुनिक समय की जटिल समस्याओं का समाधान केवल संघों द्वारा हो सकता है।

(र) स्वैच्छिक संघ' का कार्य होगा –

(i) सरकार का निर्वाचन
(ii) सरकार की शक्तियों को परिभाषित करना
(iii) सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यों को करना
(iv) सरकार को कार्य करते हुऐ परामर्श देना

(ल) अराजकतावादी वे राजनीतिक विचारक हैं जो –

(i) राज्य के चरित्र में परिवर्तन करना चाहते हैं।
(ii) राज्य की शक्तियों को कम करना चाहते हैं।
(iii) राज्य की शक्तियों में वृद्धि करना चाहते हैं।
(iv) राज्य को समाप्त करना चाहते हैं।

(व) निम्न में से कौन सा कथन अराजकतावादियों के लिए सही है?

(i) जनता के प्रतिनिधि सभी समस्याओं के प्रभावशाली समाधान में अक्षम हैं।
(ii) राज्य वस्तुओं के समान वितरण का प्रबन्ध करता है।
(iii) राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है।
(iv) राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है।

19.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई 19.2 एवं 19.4 अंश
(ब) देखिए इकाई 19.3 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 19.6 अंश
(ब) देखिए इकाई का 19.7 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (i)
(ब) (iii)
(स) (i)
(द) (iv)
(य) (iii)
(र) (iii)
(ल) (iv)
(व) (i)

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–2

राज्य की विचारधाराओं

इकाई – 20 सर्वाधिकारवाद	**70**
इकाई – 21 फासीवाद	**82**
इकाई – 22 साम्राज्यवाद	**101**
इकाई – 23 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद	**119**

mÙkj in'k jktf"k V.Mu eDr fo'ofo|ky;]

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

1. **प्रो. एल. आर. गुर्जर**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान
2. **डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय,** असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच
3. **डॉ के. डी. सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया
4. **डॉ नीलिमा सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
5. **डॉ एच. के. शर्मा**, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
6. **डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज
7. **डॉ ए. पी. सिंह**, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज
8. **डॉ मोहम्मद शाहिद**, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-ShareAlike 4.0 International License.

2020 (मुद्रित)

ISBN- 979-93-83328-35-2

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

खण्ड परिचय

खण्ड–2 में 'राज्य की विचारधाराओं' के अन्तर्गत

ईकाई–20 'सर्वाधिकारवाद' ईकाई का अध्ययन कर आप राज्य के अर्थ एवं विकास का अध्ययन कर उसके दोषों को भी जान सकेंगे। अधिनायक तंत्र से सर्वाधिकारवाद के अन्तर को समझ सकेंगे।

ईकाई–21 में 'फासीवाद' के अर्थ व विकास एवं फासीवाद के सिद्धान्त के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस ईकाई के अन्तर्गत फासीवाद और साम्यवाद के भी अन्तर को आप समझ सकेंगे।

ईकाई–22 इस ईकाई के अन्तर्गत साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा के अध्ययन, कारणों तथा साम्राज्यवादी विचारों के तथा उसके विविध रुपों का अध्ययन कर सकेंगे। साम्राज्यवाद, उपनिवेषवाद और नव–उपनिवेषवाद के अन्तर को भी समझ सकेंगे।

ईकाई–23 के अन्तर्गत राष्ट्रवाद के विकास, अर्थ, परिभाषा, राष्ट्रीयता के तत्वों एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के उद्‌भव एवं सहायक तत्वों का अध्ययन कर सकेंगे।

इकाई 20

सर्वाधिकारवाद

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 सर्वाधिकारवाद का अर्थ एवं परिभाषा

20.3 सर्वाधिकारवाद की विशेषताएँ

20.4 सर्वाधिकारवाद का इतिहास एवं विकास

20.5 सर्वाधिकारवाद के प्रकार

20.5.1 साम्यवादी व फासीवादी

20.5.2 सर्वाधिकारवाद व स्वेच्छाचारवाद

20.6 सर्वाधिकारवाद की आलोचना

20.7 सारांश

20.8 शब्दावली

20.9 उपयोगी पुस्तकें

20.10 सम्बन्धित प्रश्न

20.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

सर्वाधिकारवाद अधिनायक तंत्र या अधिनायकवाद का एक रूप है। इस इकाई का अध्ययन करके आप :

- सर्वाधिकारवादी राज्य का अर्थ समझ सकेंगे।
- सर्वाधिकारवादी राज्य के विकास एवं विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- सर्वाधिकारवादी राज्य के प्रकार को समझ सकेंगे।
- सर्वाधिकारवादी राज्य के दोषों को जान सकेंगे।
- एक दलीय शासन, स्वेच्छाचार (Autocracy) और अधिनायक तंत्र (Dictatorship) से सर्वाधिकारवाद के अन्तर को समझ सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

सर्वाधिकारवाद अंग्रेजी शब्द Totalitarian का हिन्दी अनुवाद है। यह लोकतंत्र का कटु आलोचक एवं उससे प्रतिद्वन्दिता करने वाली शासन प्रणाली व विचारधारा है। तुलनात्मक दृष्टि से यह लोकतंत्र की अति विरोधी व्यवस्था है। प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के बीच की कालावधि में सर्वाधिकारवादी शासन का उद्‌भव यूरोप के अनेक देशों में हुआ। सर्वाधिकारवाद लोकतंत्र के विपरीत स्वतंत्रता का विरोध करता है तथा जनइच्छा के स्थान पर व्यक्ति, व्यक्ति समूह या दल की इच्छा को महत्व देता है। लोकतंत्र के विपरीत यह विचारों के दमन नियंत्रण व राज्य के आदेश पालन हेतु बल प्रयोग पर विश्वास करता है। इस इकाई में हम सर्वाधकारवाद के अर्थ, विकास, विशेषताओं और आलोचनाओं का अध्ययन कर सर्वाधिकारवाद को समझने का प्रयास करेंगे।

20.2 सर्वाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा

सन् 1918 से 1939 के मध्य यूरोप व अन्य कई देशों में लोकतांत्रिक सरकारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई तथा कई देशों में सर्वाधिकारवादी सरकारों की स्थापना हुई। इटली में उदारवादी सरकार का तख्ता पलट हुआ और 1922 में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवादी सत्ता स्थापित हुई। इससे पहले 1917 में रूस में साम्यवादी सत्ता की स्थापना हुई। यही स्थिति स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी और जापान में उत्पन्न हुई और अधिनायकवादी सरकारों की स्थापना हुई। ये सभी शासन सर्वाधिकारवादी शासन के रूप में जाने गये क्योंकि जैसा हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt) ने उल्लिखित किया कि यह सरकार का नया रूप था न कि अधिनायकवादी शासन का आधुनिक रूप।

सर्वाधिकारवाद शब्द का प्रयोग 1928 में इटली में फासीवाद के विरोधियों द्वारा किया गया था। विरोधियों ने इसे मुसोलिनी की राजनीति और सरकार का नकारात्मक रूप में वर्णन करने हेतु प्रयोग किया था। हालाँकि फासीवादियों ने इसे अपने शासन के शुद्ध उद्‌देश्य और प्रकृति हेतु इसे सर्वाधिक उपयुक्त माना। जब मुसोलिनी ने 1925 में अपने भाषण, राज्य के अन्तर्गत सब कुछ राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो उसमें सर्वाधिकारवादी राज्य की मूल आवश्यक प्रकृति को सामने लाने का प्रयास किया। राज्य के बाहर कुछ नहीं हो सकता, अतः मुक्त बाजार नहीं हो सकता, मुक्त राजनीतिक दल नहीं हो सकते, मुक्त परिवार और मुक्त चर्च नहीं हो सकते। इस प्रकार सर्वाधिकारवाद उदार लोकतंत्र के विरोधी ध्रुव पर स्थित है। सर्वाधिकारवादी शासन के अन्तर्गत राज्य व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक पक्ष को नियंत्रित करता है और राज्य के उद्‌देश्य द्वारा निर्देशित न होने वाले किसी भी कार्य, व्यक्ति या समूहों को सहन नहीं करता है। मुसोलिनी ने इस शब्द (सर्वाधिकारवाद) को इटली में अपने शासन के लिए प्रयुक्त किया, लियोन ट्राट्स्की ने इसे फासीवाद और स्टालिनवाद दोनों के लिए प्रयुक्त किया। महान विचारक हन्ना आरेन्ट ने इसे नाजी जर्मनी और स्टालिन के सोवियत संघ में समानता का उल्लेख करने में प्रयुक्त किया और लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार सर्वाधिकारवादी शासन के मुख्य उदाहरणों में फासीवादी इटली, नाजी जर्मनी और स्टालिन के अधीन सोवियत संघ का उदाहरण है।

विलियम एबन्सटीन (William Ebenstein) ने सर्वाधिकारवादी राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा कि सरकार व समाज का ऐसा संगठन जो एक दलीय

तानाशाही, अति राष्ट्रवादी, नस्लवादी और साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा संगठित हो। सर्वाधिकारवाद राज्य शक्ति की पूजा को प्रोत्साहित करता है। इसका मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन केवल उससे सम्बन्धित नहीं है वरन केवल राज्य से सम्बन्धित है। गिवानी जेन्टाल्स (Giovanni Gentiles) ने सर्वाधिकारवादी राज्य की व्याख्या करते हुए कहा कि यह राज्य की वह परिस्थिति है जहाँ नागरिक समाज की सभी गतिविधियाँ अनिच्छा अथवा इच्छा से अन्ततः राज्य रूपी संस्था में ही समाहित होती हैं।

व्यक्तियों को राज्य की सेवा करने से ही महत्व प्राप्त होता है और यदि वे स्वयं को राज्य में समाहित नहीं कर पाते तो वे मात्र एक अणु के समान हो जाते हैं। इस प्रकार सर्वाधिकारवादी राज्य स्वायत्त संस्थाओं की अनुमति प्रदान नहीं करता है और सभी संगठनों के उद्देश्य, गतिविधियाँ और सदस्यता राज्य द्वारा नियंत्रित होती हैं। राज्य सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी हो जाता है। धर्म, नैतिकता और शिक्षा राज्य के अधीनस्थ है। सर्वाधिकारवाद का उद्देश्य समाज और राज्य के मौलिक भेद को समाप्त करना तथा राज्य को असीमित बनाना है। नाजी सिद्धान्तवादी फ्रैन्ज शानवेकर (Franz Schanwecher) का कहना था कि 'राष्ट्र की ईश्वर से प्रत्यक्ष एवं गहरी एकता है..........जर्मनी ईश्वर का साम्राज्य है।'

सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त क्रमिक रूप से व्यावहारिक आन्दोलनों और वास्तविक सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों से विकसित हुआ है। इसलिए इसका सम्बन्ध व्यवहार से पहले और सिद्धान्त से बाद में है। सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त एवं आन्दोलनों का विश्लेषण करने वाले चिन्तकों में हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt), कार्ल फ्रैड्रिक (Carl Friendrich), ब्रैजन्सिकी (Brazenyinsky) और जीन किकपैट्रिक (Jean Kiskpatrick) के नाम प्रमुख हैं।

20.3 सर्वाधिकारवादी राज्य की विशेषताएं

सर्वाधिकारवादी राज्य की निम्न विशेषताएं हैं –

1. उदार – प्रजातांत्रिक विचारधारा के विवेक में विश्वास के विपरीत, सर्वाधिकारवादी मूलप्रवृत्ति और भावनाओं को गौरवान्वित करते हैं। यह बौद्धिकता के विरोधी हैं और मनुष्य की गतिविधियों की प्रेरक शक्ति मूल प्रकृति और इच्छा को मानते हैं। इनका विश्वास है कि तर्कशीलता एवं विवेक में विश्वास करने से मुनष्य आगे नहीं बढ़ता है वरन् स्वाभाविक प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों के अनुरुप कार्य करने से वास्तविक उन्नति एवं विकास हो सकता है।

2. यह प्रजातंत्र और समाजवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। यह संसदीय व्यवस्थाओं को तुच्छ समझते हैं और उन्हें मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट और मन्द गतिशीलता के आधार पर आलोचना करते हैं। सर्वाधिकारवादी प्रजातंत्र को 'एक सड़ती हुई लाश' कहते हैं। संसद को बातों की दुकान बताते हुए इनके महत्व को अस्वीकार करते हैं। सर्वाधिकारवादियों के अनुसार संकटकाल में लोकतंत्रीय शासन बिल्कुल ही अयोग्य होता है। यह प्रजातंत्र के विविधता एवं बहुलवाद के स्थान पर राजनीतिक शक्ति को एक अधिनायक और एक दल में निहित करना चाहते हैं। यह समानता के सिद्धान्त के स्थान पर पदानुक्रम सिद्धान्त को महत्व देता है और इस प्रकार राजनीति में अभिजनवादी सिद्धान्त को प्रोत्साहन देता है।

3. सर्वाधिकारवादी राज्य स्वतंत्रता विरोधी है और व्यक्ति की स्वतंत्रता को भूतकाल की भूल मानते हैं, उनके अनुसार व्यक्ति भाषण, विचार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की माँग नहीं कर सकता है। संघ बनाने की स्वतंत्रता को भी ये अस्वीकार करते हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य में प्रेस, किताबों के प्रकाशन तथा रेड़ियों एवं टेलीविजन जैसे जनसंचार माध्यमों पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहता है। राजनीतिक विरोध के अस्तित्व को पूरी तरह से अस्वीकार किया जाता है। समय–समय पर राजनीतिक विरोधियों को समाप्त कर देना इटली, जर्मनी एवं रूस (स्टालिन के काल) में सर्वाधिकारवादी राज्य की विशिष्टि पहचान थीं कार्यरत वर्ग को हड़ताल का कोई अधिकार नहीं था। डॉ0 ओटो डायट्रिक (Dr. Otto Dietrich) वैयक्तिक स्वतंत्रता की निरर्थकता पर जोर देते हुए कहा है कि 'व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं है, केवल लोगों की, राष्ट्रों या जातियों की स्वतंत्रता होती है, क्योंकि वे ही एकमात्र महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक यथार्थ हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन का अस्तित्व है। सर्वाधिकारवाद, दल–राज्य के विरुद्ध किसी भी अधिकार को स्वीकार नहीं करता है।

4. सर्वाधिकारवाद का राष्ट्रवाद में अतिविश्वास है। उग्र राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और विस्तारवाद सर्वाधिकारवादी राज्यों की मुख्य विशेषता थी। राष्ट्रहित के लिए यह राष्ट्र–राज्य की आंगिक एकता में विश्वास करता है। यह मार्क्सवाद के वर्गहित एवं वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन करता है और उसे अस्वीकार करता है। सर्वाधिकारवादी राज्य राजनीतिक मिथ का प्रयोग करते हुए समाज के हर वर्ग का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करता है। इटली का फासीवादी राज्य और जर्मनी का नाजीवादी राज्य इसके उदाहरण हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य विस्तारवादी नीति का समर्थन करते हुए युद्ध को अनिवार्य और अपरिहार्य मानते हैं क्योंकि युद्ध ही अच्छे और बुरे, उत्कृष्ट और निकृष्ट, स्थायी और क्षणिक के बीच का मुख्य निर्णायक होता है। हिटलर व मुसोलिनी ने युद्ध को पुरुषोचित गुणों के विकास हेतु आवश्यक माना था। इस बात से हम सभी अवगत हैं कि सर्वाधिकारवादी राज्यों की विस्तारवादी सिद्धान्त ही द्वितीय विश्व युद्ध का मूल कारण था।

5. सर्वाधिकारवादी राज्य को एकीकृत करने के लिए धर्म को भी राज्य के अधीनस्थ रखना चाहते हैं। राष्ट्रहित और राष्ट्र राज्य के विकास एवं विस्तार हेतु वे धर्म को साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं।

6. सर्वाधिकारवादी विचारधारा प्रचार एवं आतंक इन दो साधनों से जनता को एकत्र और नियंत्रित करना चाहती है। चर्च और स्कूल, स्टेज, सिनेमा और रेडियो, कला और साहित्य सभी सर्वाधिकारवादी विचारधारा को प्रचारित–प्रसारित करने का कार्य करते हैं। नाजियों ने स्वयं को शक्तिशाली संगठनकर्ता और निपुण प्रचारक सिद्ध किया। गोयाबाल (Goebbles) गौरिंग (Goering) और लेवी (Levy) जैसे विद्वान पटकथा तैयार करते थे और पलक झपकते ही यह राज्य के कोने–कोने में प्रसारित हो जाती थी। हिटलर अपनी निर्दयी वाक्पटुता से एवं मुसोलिनी अपने चतुर और सावधानीपूर्ण तरीकों से जनमानस को सम्मोहित एवं प्रभावित कर लेते थे। दोनों ही विचारधारा अपने गहन प्रचार और हर संभव मनोवैज्ञानिक तरीकों से जनता से अपील करती थी। जनता इतनी प्रभावित होती थी कि वे अधिनायक द्वारा दिये गये निर्देशों का आँख बन्द कर पालन करती थी और दिये गये कार्यों को पूरा करना चाहती थी। परन्तु यह प्रचार भय व

आतंक के सहयोग से किया जाता था। बन्दीगृह, ध्यानकेन्द्र और विशिष्ट टुकड़ियाँ आतंक और भय उत्पन्न करने का कार्य करते थे। सर्वाधिकारवाद 'शक्ति ही सत्य है' के सिद्धान्त में विश्वास करता है और नैतिक मूल्यों को कोई महत्व नहीं देता।

7. सर्वाधिकारवाद का आर्थिक सिद्धान्त सामान्य हित को व्यक्तिगत हित के ऊपर रखता है और आर्थिक स्व–सक्षमता के उद्देश्य से निरंकुश तानाशाही की नीति का पालन करता है। मुसोलिनी की 'निगमनात्मक राज्य' की धारणा सामूहिकता की धारणा है जो उत्पादक एवं उपभोक्ता, नियोक्ता एवं कर्मचारी सभी के हितों एवं दावों को सुरक्षित करता है।

20.4 सर्वाधिकारवाद का इतिहास एवं विकास

सर्वाधिकारवाद को समान्य अर्थ में शासन करने की एक व्यवस्था कह सकते हैं जो जनता के जीवन की प्रत्येक गतिविधियों राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक पर प्रोपोगन्डा और आतंक के द्वारा पूर्ण नियंत्रण रखता है। 'सर्वाधिकारवाद' का प्रथम प्रयोग 1923 में जिवोनी अमेन्डोला (Giovanni Amendola) ने इटली के फासीवाद की परम्परागत अधिनायकवाद से मूलभूत भिन्नता स्थापित करने के सन्दर्भ में प्रयोग किया था। बाद में इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं फासीवादी विचारक जिवोनी जेन्टाइल (Giovanni Gentiles) के लेखों में सर्वाधिकारवाद को सकारात्मक अर्थ प्राप्त हुआ। उन्होंने 'totalitario' शब्द का प्रयोग नवीन राज्य के लक्ष्य एवं ढाँचे के सन्दर्भ में किया। जिसके द्वारा नवीन राज्य को पूर्ण प्रतिनिधित्व व राज्य के लक्ष्यों को पूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करना था। उन्होंने सर्वाधिकारवाद को ऐसा समाज कहा जहाँ यदि राज्यों की शक्ति का नहीं तो, राज्य की विचारधारा का उसके अधिकांश नागरिकों पर प्रभाव था। मुसोलिनी ने भी सहर्ष इस शब्द का प्रयोग किया, हिटलर ने इस शब्द के प्रयोग से बचने का प्रयास किया और स्टालिन ने इसे रूस के स्थान पर फासीवादी इटली और नाजीवादी जर्मनी के लिए अधिक उपयुक्त माना। 1945 के पश्चात् शीतयुद्ध काल में यह ज्यादा प्रचलन में आया और स्कूली किताबों में प्रमुख जगह बनाई। उसी समय अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान कार्ल फ्रेडरिक और बर्जेजिन्सकी (Friedrich and Breginski) ने अपनी पुस्तक 'Totalitarian Dictatorship and Autocracy' में इसे पूर्ण रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया। फ्रैडिक और बर्जेजिन्सकी ने 20वीं सदी के इतिहास का अध्ययन कर इसकी छः मुख्य विशेषताएँ बताई हैं।

1. एक सरकारी विचारधारा जिसके प्रति सामान्य भक्ति की माँग, वह विचारधारा जो मानव जाति के पूर्ण और अन्तिम चरण को प्राप्त करना चाहती है।
2. व्यापक जनाधारवाला एक दल, श्रेणीबद्ध संगठन, राज्य नौकरशाही और विशिष्ट रूप से एक व्यक्ति नेतृत्व के मध्य घनिष्ठ सामंजस्यता।
3. सैन्य शक्तियों पर एकाधिकारी नियंत्रण।
4. जनसंचार साधनों पर समान रूप से प्रभावी एकाधिकारी नियंत्रण।
5. आतंकी पुलिस नियंत्रण की व्यवस्था
6. सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर केन्द्रीय नियंत्रण व निर्देशन।

समकालीन विश्व में सर्वाधिकारवाद का प्रसार स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ी चुनौती रही है। कार्ल पॉपर (1902–1994) और हन्ना आरेन्ट (1906–1975) ने सर्वाधिकार के प्रसार में विचारधारा को विशेष महत्व दिया है। बीसवीं शताब्दी की प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt) ने अपनी पुस्तक 'The Origin of Totalitarianism' में सर्वाधिकारवादी राज्य की तीन मूलभूत विशेषताओं का उल्लेख किया है–

1. सर्वाधिकारवादी स्वेच्छाचारिता एक विशिष्ट प्रकार की स्वेच्छाचारिता है क्योंकि यह स्वेच्छाचारिता संविधानवाद का छद्मरूप ग्रहण करती है।

2. सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में विचारधारा का विचारों एवं विश्वासों से बहुत कम सम्बन्ध होता है परन्तु विचार एवं विश्वास जनमानस को अपने पक्ष में जोड़ तोड करने का साधन है। इस प्रकार सत्ताधारी अभिजन का उन पर नियंत्रण होता है।

3. आतंक का प्रयोग केवल विरोधियों को भयभीत एवं समाप्त करने के लिए नहीं वरन् लोगों को नियंत्रित एवं पृथक करने के साधन के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग अधिनायक की आज्ञाओं का पूर्णतया पालन सुनिश्चित करता है।

इस प्रकार हन्ना आरेन्ट सर्वाधिकारवाद को एक ऐसी व्यवस्था मानती है जो सभी देशों, विश्व के सभी लोगों की मध्य एक सत्ता, एक जीवन मार्ग, एक विचारधारा के अस्तित्व की पूर्वकल्पना बताती हैं।

आस्ट्रिया में जन्मे ब्रिटिश दार्शनिक कार्ल पॉपर ने तर्क दिया है कि विचारधारा केवल सर्वाधिकारवादी समाज में पाई जाती है, क्योंकि वहाँ सब मनुष्य को एक ही साँचे में ढालने की कोशिश की जाती है, मुक्त समाज में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।

शीतयुद्ध काल में विचारधारात्मक द्वन्द में सर्वाधिकारवाद शब्द का प्रयोग उदार प्रजातंत्रों द्वारा साम्यवादी राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना करने के लिए इसका प्रयोग किया गया था। यदि कार्ल फ्रैडरिक एवं वर्जेजिन्सकी द्वारा वर्णित छः मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करें तो वास्तव में ये वे साधन हैं जिनके द्वारा सर्वाधिकारवादी राज्य स्थापित करने का प्रयास किया गया और यदि अलग–अलग ऐसे राज्यों का विश्लेषण किया जाये तो उनमें थोड़ी बहुत भिन्नता अवश्य मिलती है। इटली में मुसोलिनी ने केवल एकमात्र विचारधारा विकसित नहीं की वरन् फासीवादी विचारधारा रोमन कैथलिक चर्च और राजतंत्र के साथ अस्तित्व में बनी रही। इटली के फासीवाद की तुलना सोवियत संघ व नाजी जर्मनी से की जाये तो इटली की आतंकी पुलिस की गतिविधियाँ सीमित थीं, मुसोलिनी की एकल आर्थिक नीति–निगमनात्मक व्यवस्था का शिथिलता से क्रियान्वयन हुआ। मुसोलिनी ने अपनी पत्रकारिता के क्षेत्र में गहन अनुभव के कारण फासीवादी विचारधारा को प्रोपोगण्डा के द्वारा कुशलतापूर्वक फैलाया।

सोवियत संघ में स्टालिन ने साम्यवादी दल की शक्ति को बढ़ाने की नीति का अथक प्रयास किया। जर्मनी में हिटलर ने जब सत्ता प्राप्त की तो उसने शक्तिशाली राष्ट्रवाद, नस्लीय विचारधारा का पूर्ण प्रचार किया। हिटलर ने डॉ0 जोसेफ गोयबल्स (Dr. Joseph Goebbles) के साथ मिलकर जनसंचार साधनों का भरपूर प्रयोग किया और नियंत्रण किया परन्तु हिटलर को सैन्य शक्तियों को

नियंत्रित करने में कुछ समय लगा। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण करने में भी हिटलर को संघर्ष करना पड़ा।

नाजीवादी, फासीवादी और स्टालिनवादी आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ अन्य आन्दोलन भी हैं जो सर्वाधिकारवाद की श्रेणी में आते हैं। स्पेन के ऐतिहासिक रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के 'स्वायत्त अधिकारों के स्पेनिश परिसंघ' के नेता ने घोषणा कर अपने इरादे प्रकट किये – 'स्पेन को सच्ची एकता, नया उत्साह, एक सर्वाधिकारवादी सत्ता दो.........' और आगे कहा कि प्रजातंत्र एक लक्ष्य नहीं है वरन् नवीन राज्य के विजय का साधन है। जब समय आयेगा या तो संसद समर्पण कर देगी और या फिर हम समाप्त कर देंगे।'

समकालीन विश्व में शासन प्रणाली के रूप में सर्वाधिकारवाद धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है परन्तु यह ऐसे प्रकट या गुप्त संगठनों के रूप में परिवर्तित हो गया है जो अपने सदस्यों का ब्रेनवाश करके इन्हें किसी सच्चे या झूठे लक्ष्य प्राप्ति के नाम पर जान न्यौछावर करने के लिए तैयार करते हैं इसी से वर्तमान समय की सबसे गम्भीर समस्या आतंकवाद का जन्म हुआ।

20.5 सर्वाधिकारवादी राज्य के प्रकार

सर्वाधिकारवाद लोकतंत्र और उदारवादी विचारधारा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जो व्यक्ति को साधन तथा राज्य को सध्य मानते हुए सम्पूर्ण शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहती है। साम्यवाद, फासीवाद और नाजीवाद सब सर्वाधिकारवादी राज्य के रूप हैं परन्तु साम्यवादी सर्वाधिकारवाद फासीवादी सर्वाधिकारवाद से भिन्न है, साम्यवादी सर्वाधिकारवाद वामपंथी कहलाता है और फासीवादी सर्वाधिकारवाद दक्षिणपंथी कहलाता है। साम्यवादी पूंजीवाद का अन्त कर उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग के राज्य की स्थापना के पक्ष में है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार की व्यवस्था का विरोध करने के कारण इसे 'वामपंथी सर्वाधिकारवाद' कहा जाता है। दक्षिणपंथी सर्वाधिकारवाद के अन्तर्गत फासीवाद व नाजीवाद आते हैं क्योंकि ये पूंजीवाद का अन्त नहीं करना चाहते और यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं।

20.5.1 फासीवादी और साम्यवादी सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में अन्तर

यद्यपि साम्यवादी और फासीवादी व्यवस्थाएँ सर्वाधिकारवाद के ही दो रूप हैं परन्तु कुछ विद्वानों ने इसमें मूलभूत अन्तर बताए हैं। ये दोनों प्रकार की शासन व्यवस्था प्रायः एक प्रकार के साधनों और उपायों का प्रयोग करती हैं परन्तु इनके लक्ष्यों और उद्देश्यों में अन्तर होने के कारण विद्वान इन्हें अलग–अलग श्रेणी में रखते हैं। स्वयं साम्यवादी स्वयं को सर्वाधिकारवादी नहीं मानते केवल उनके विरोधी ही उनके लिए इस शब्द का प्रयोग करते हैं। हम सब इस तथ्य से परिचित हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध (1939–45) में फासीवादी और नाजीवादी राज्यों (इटली, जर्मनी और जापान) को चुनौती देने के लिए तत्कालीन सर्वाधिक शक्तिशाली साम्यवादी शक्ति सोवियत संघ ने ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका जैसे लोकतंत्रीय देशों का साथ दिया था और फासीवाद की पराजय के बाद साम्यवाद निरंतर शक्तिशाली होता गया। साम्यवाद के तौर तरीकों के कारण कई देशों में साम्यवादी व्यवस्था का पतन हुआ और सन् 1991 में सोवियत संघ का भी विघटन हो गया परन्तु आज भी कई देशों – जनवादी चीन गणराज्य, वियतनाम आदि में यह

व्यवस्था अभी भी अस्तित्व में है। हाँ यह बात जरूर है कि उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इसकी कार्यप्रणाली व साधनों में शिथिलता लाई गई हैं।

आमन्ड और पॉवेल ने अपनी रचना 'कंपेरेटिव पॉलिटिक्स : ए डेवलेपमेंटल एप्रोच' में राजनीतिक प्रणाली की चार तरह की कार्यक्षमताओं का विवरण दिया है—विनियमन क्षमता, दोहन क्षमता, वितरण क्षमता और प्रत्युत्तर क्षमता। सर्वाधिकारवादी प्रणालियों में विनियमन और दोहन की भरपूर क्षमताएँ पाई जाती हैं। वे अपने समाज के विनियमन के लिए व्यापक बल प्रयोग करती हैं और अपनी जनसंख्या के संसाधनों का अधिकतम दोहन करती हैं। फासीवादी सर्वाधिकारवाद की तुलना में साम्यवादी सर्वाधिकारवाद की मुख्य विशेषता उसकी प्रबल वितरण क्षमता है। फासीवाद प्रणाली अपने राष्ट्र अथवा जाति की समृद्धि और गौरव वृद्धि के लिए, सत्तारूढ़ वर्ग की शक्ति वृद्धि के लिए देश के अन्दर और देश के बाहर हिंसक साधनों द्वारा दमन का प्रयास करती है जबकि साम्यवादी प्रणाली अपने नागरिकों को सामाजिक और आर्थिक अधिकार एवं सुरक्षा प्रदान करने के लिए देश की आर्थिक शक्ति और संसाधनों पर कठोर नियंत्रण स्थापित कर लेती है। साम्यवाद का घोषित लक्ष्य वर्गविहीन समाज की स्थापना है परन्तु सत्ता साम्यवादी दल और उसमें भी केन्द्रीय नेतृत्व में निहित होती है इसलिए इस प्रणाली में भी भ्रष्टाचार और उत्पीड़न का प्रभाव बढ़ा है।

20.5.2 सर्वाधिकारवाद और स्वेच्छाचारवाद

स्वेच्छाचारवाद से तात्पर्य ऐसी शासन प्रणाली से है जिसमें शक्ति किसी एक व्यक्ति (अधिनायक) एक समिति या एक समूह या राजनीतिक अभिजनों के छोटे से समूह में निहित होती है जो राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार रखता है। हालाँकि सर्वाधिकारवादी शासन व्यक्ति व समाज के जीवन के प्रत्येक पक्ष आर्थिक, शैक्षिक, कला विज्ञान, व्यक्तिगत जीवन और नागरिकों की नैतिकता सभी पर नियंत्रण रखता है। इसमें सरकार की ओर से एक आधिकारिक विचारधारा (official ideology) को मान्यता दी जाती है और समाज के ढाँचे पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है तथा सरकार नागरिकों के विचारों एवं क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। पॉल सी सॉन्डराल (Paul C. Sondral) ने स्वेच्छाचारवाद और सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्थाओं की विशेषताओं का अध्ययन किया और तुलना करते हुए बताया है कि सर्वाधिकारवाद में उच्च करिश्माई नेता का नेतृत्व होता है, शक्ति का स्रोत जनता होती है, भ्रष्टाचार कम होता है, अधिकारिक विचारधारा होती है, नेता की भूमिका कार्य पर निर्भर होती है, सीमित बहुलवाद नहीं होता है और शासन में वैधता होती है जबकि स्वेच्छाचारवाद में तुलनात्मक रूप की करिश्माई नेता कम होते हैं, नेता की भूमिका व्यक्तिगत रूप में निर्धारित होती है, शक्ति का स्रोत व्यक्तिगत होता है, भ्रष्टाचार अधिक होता है, आधिकाधिक विचारधारा नहीं होती, सीमित बहुलवाद होता है और शासन वैध नहीं होता है।

20.6 सर्वाधिकारवाद की आलोचना

सर्वाधिकारवाद के प्रस्तावकों के अतिरिक्त सभी ने इसकी आलोचना की है। यह वह विचारधारा है जिसने विश्व को भयानक एवं हानिकारक विश्वयुद्ध की ओर धकेला और लोगों को अकथनीय पीड़ा एवं अपमान सहना पड़ा। प्रो0 हैलावल (Prof. Hallowell) ने इसे 'आध्यात्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अराजकता की सार्वजनिक घोषणा' कहा है।

सर्वाधिकारवाद की मुख्य आलोचना निम्नवत् है –

1. सर्वाधिकारवाद कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं है। यह प्रायः विरोधी विचारों का अवसरवादी संग्रह है इसके सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत अन्तर है।

2. सर्वाधिकारवाद के उदारवादी आलोचक इसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं स्वायत्ता के हनन के आधार पर इसकी आलोचना करते हैं क्योंकि सर्वाधिकारवादी व्यक्ति को राज्य की सम्पूर्ण शक्ति के अधीनस्थ मानते हुए व्यक्ति को राज्य की लक्ष्य प्राप्ति का साधन कहते हैं। इसके अतिरिक्त यह व्यक्ति की प्राकृतिक समानता में कोई विश्वास नहीं करते और इसकी नायक पूजा का समर्थन और जातीय उच्चता की धारणा पतन की ओर अग्रसर करती है।

3. सर्वाधिकारवादी राज्य बहुलवाद और संविधानवाद के कट्टर शत्रु हैं। इसकी एकदलीय एकाधिकार की स्थापना और राजनीतिक शक्ति प्राप्ति की स्वतंत्र एवं खुली प्रतियोगिता की समाप्ति राजनीतिक शक्ति के एकाधिकार एवं समाज के सैन्यक्रम के मार्ग को प्रशस्त करती है। सर्वाधिकारवाद शक्ति और हिंसा को महिमा मंडित करते हैं जिससे पूर्ण अनुरूपता एवं निश्चित आज्ञाकारिता को स्थापित किया जा सके। यह संवैधानिक सिद्धान्तों और नैतिक मापदण्डों को बहुत कम सम्मान देता है। यह केवल और केवल मात्र इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि शक्ति ही केवल सत्य है और उसको बढ़ाने और स्थिर रखने वाले कारक ही मूल्य हैं। इस प्रकार सर्वाधिकारवाद मनुष्य के विवेक के उदारवादी विश्वास तथा चर्चा के द्वारा सरकार गठन की धारणा को पूर्णतया अस्वीकार करता है। जैसा कि प्रो0 लास्की ने कहा कि एक फासीवादी राज्य आतंक पर आधारित और आतंक के भय से संगठित और व्यवस्थित शक्ति है।

4. सर्वाधिकारवाद अति साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देता है। यह राज्य में गहन शस्त्रीकरण और सैन्यकरण के सिद्धान्त को प्रोत्साहन देता है। यह युद्ध का समर्थन करता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गैर कानूनी और अनैतिक व्यवहार को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जर्मनी, इटली और जापान की सर्वाधिकारवादी सत्ता सभ्यता पर घातक खतरा मानी गयी थी। प्रो0 लास्की ने सत्य ही कहा है कि फासीवादी राज्य अनिवार्य रूप से डाकुओं और निर्वासितों की सरकार थी जो अपने जीवन के लिए देश के अन्दर सतत् गृहयुद्ध और बाहर स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष पर निर्भर थी।

5. मार्क्सवादी भी सर्वाधिकारवाद के कटु आलोचक रहे हैं। उनके अनुसार सर्वाधिकारवाद पतनोन्मुख पूंजीवाद है। राष्ट्र राज्य की मिथ्या धारणा उत्पन्न कर ये एक ओर वर्ग संघर्ष को महत्वहीन दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विकास को कम करने का प्रयास करते हैं। इटली के मार्क्सवादी विचारक ग्रामसी ने फासीवादी सरकार पर नागरिक समाज में पूंजीवादी आधिपत्य (Hegemony) संरक्षित करने का आरोप लगाया।

20.7 सारांश

प्रथम विश्वयुद्धोत्तर काल जर्मनी, इटली, सोवियत संघ, स्पेन, जापान आदि में सर्वाधिकारवादी राज्य के उत्थान पतन का साक्षी था। ये शासन उदारवादी

प्रजातंत्र और उसके संगठनों की धुर विरोधी थे। इनका व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकार में कोई विश्वास न था। सर्वाधिकारवादी राज्य सरकार चलाने में शक्ति व बल पर निर्भर करते थे। उन्होंने वृहद् स्तर पर गोपनीय पुलिस को विरोधियों को ढूँढने व समाप्त करने के लिए गठन किया था। रूस में ओग्पू (Ogpu) जर्मनी में गेस्टपो (Gestapo) इसके उदाहरण हैं। उनका सिद्धान्त था सत्ताधारी दल का तथा दल के अन्दर कोई विरोध नहीं। वे संगठित अल्पसंख्यकों को असहनीय मानते थे और जनमत निर्माण के साधनों प्रेस, रेडियो, थियेटर, फिल्म आदि पर एकाधिकार स्वीकार करते थे। सर्वाधिकारवादी उग्र राष्ट्रवादी थे, ये राज्य पूजा और राष्ट्र एकता में विश्वास करते हैं, इनका राष्ट्रवाद संकुचित था। ये अन्तर्राष्ट्रीयवाद को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायरों का सपना है। ये विस्तारवादी नीति के समर्थक थे और स्वाभाविक रूप से युद्ध को प्रोत्साहन देते थे।

सर्वाधिकारवाद, राज्य पूजा का सिद्धान्त है। यह राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानता है। मुसोलिनी के अनुसार 'सब कुछ राज्य के अन्दर, राज्य के बाहर तथा शासन के विरुद्ध कुछ नहीं।' जहाँ तक सर्वाधिकारवाद के आर्थिक दर्शन का सम्बन्ध है यह पूंजीवाद या समाजवाद के सिद्धान्त का प्रयोग राज्य की अर्थव्यवस्था को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए करते हैं। सशक्त और आत्मनिर्भर राज्य बनाने के लिए सभी आर्थिक गतिविधियाँ राज्य द्वारा निर्देशित व नियंत्रित होती थीं। इस प्रकार इनका आर्थिक सिद्धान्त पूर्णतया राष्ट्रवादी था और ये आवश्यकता एवं सुविधानुसार पूंजीवादी अथवा समाजवादी सिद्धान्तों का प्रयोग करते थे। मुसोलिनी द्वारा निगमनात्मक राज्य की अवधारणा सर्वाधिकारवादी दर्शन का आर्थिक संगठन है।

कुछ विद्वान् इटली और जर्मनी के दक्षिणपंथी, सर्वाधिकारवाद और स्टालिनवादी रूस के वामपंथी सर्वाधिकारवाद में भेद करते हैं, परन्तु जैसा कि कार्ल जासपर कहते हैं 'सर्वाधिकारवाद न तो साम्यवाद है और न ही फासीवाद और न ही राष्ट्रीय समाजवाद परन्तु यह इन तीनों प्रकार में प्रकट होता है।

20.8 शब्दावली

हिंसा – बल प्रयोग, जोर जबरदस्ती, किसी को मानसिक व शारीरिक हानि पहुँचाना

भ्रष्टाचार – निजी लाभ के लिए सार्वजनिक पद का दुरुपयोग, प्रभाव का अनुचित प्रयोग अथवा गैर कानूनी ढंग से किसी लाभ के लिए व्यवहार करना, राजनीतिक पद का धन एकत्रित करने के साधन के रूप में प्रयोग

साम्यवाद – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का उच्चतम रूप जिसमें जहाँ एक ओर पूंजीवाद का अंत होता है, वहाँ दूसरी ओर पूरी तरह समाजवाद की स्थापना की जाती है, प्रत्येक व्यक्ति को कार्यों के अनुसार आवश्यकताओं की पूर्ति

उदारवादी लोकतंत्र –प्रतिनिधि प्रकार के लोकतंत्र का एक रूप है जिसके अन्तर्गत लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास निर्णय निर्माण की शक्ति होती है तथा जिन पर लोगों का नियंत्रण होता है।

20.7 उपयोगी पुस्तकें

1. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
2. डॉ. पुखराज जैन एवं बी.एल. फाड़िया राजनीतिक सिद्धान्त पारम्परिक और समकालीन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
3. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

20.8 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**
   - (अ) सर्वाधिकारवाद का अर्थ व विशेषताएं बताइए।
   - (ब) सर्वाधिकारवाद की आलोचना कीजिए।
   - (स) सर्वाधिकारवाद के इतिहास एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**
   - (अ) सर्वाधिकारवाद के दो प्रमुख रूप बताइए।
   - (ब) फासीवादी एवं साम्यवादी सर्वाधिकारवाद में अन्तर बताइये।
   - (स) स्वेच्छाचारवाद एवं सर्वाधिकारवाद में अन्तर बताइए।
3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**
   - (अ) सर्वाधिकारवादी राज्य वह है जिसमें –
     - (ix) जो पूर्णतया जनता की इच्छा के अधीनस्थ है।
     - (x) अधिनायकवादी सत्ता को पूर्णतया अस्वीकार करता है।
     - (xi) व्यक्ति के जीवन व समाज के प्रत्येक पक्ष पर पूर्ण नियंत्रण रखता है।
     - (xii) यह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है।
   - (ब) 'राज्य के अन्तर्गत सब कुछ, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं' यह कथन निम्न में से किसका है?
     - (ix) मुसोलिनी
     - (x) हिटलर
     - (xi) मार्क्स
     - (xii) लास्की
   - (स) सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त का विश्लेषण करने वाले चिन्तकों में निम्न में से कौन सम्मिलित नहीं है।

(ix) हन्ना आरेन्ट

(x) फ्रैड्रिक

(xi) जीन किकपैट्रिक

(xii) बेथम

(द) हन्ना आरेन्ट की पुस्तक का नाम था –

(ix) Meaning of Totalitarianism

(x) Origin of Totalitarianism

(xi) Totalitarianism and Marxism

(xii) Totalitarian State

(य) दक्षिणपंथी सर्वाधिकारवाद का उदाहरण है –

(ix) सोवियत संघ

(x) चीन

(xi) क्यूबा

(xii) इटली

20.9 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 20.2 एवं 20.3 अंश

(ब) देखिए इकाई का 20.6 अंश

(स) देखिए इकाई का 20.4 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 20.5 अंश

(ब) देखिए इकाई का 20.5.1 अंश

(स) देखिए इकाई का 20.5.2 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iii)

(ब) (i)

(स) (iv)

(द) (ii)

(य) (iv)

इकाई 21

फासीवाद

इकाई की रूप रेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 फासीवाद का अर्थ

21.3 फासीवाद का विकास

21.4 फासीवाद के स्रोत

21.5 फासीवाद के सिद्धान्त

21.5.1 फासीवाद की कार्यविधि

21.5.2 फासीवादी शासन की विशेषताएं

21.6 फासीवाद की आलोचना

21.7 फासीवाद और साम्यवाद

21.8 सारांश

21.9 शब्दावली

21.10 उपयोगी पुस्तकें

21.11 सम्बन्धित प्रश्न

21.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके आप राज्य के कर्तव्यों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों में से एक फासीवाद के विषय में जान सकेंगे। इसका अध्ययन करके आप :

- फासीवाद का अर्थ समझ सकेंगे।
- फासीवादी विचारधारा के उदय की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
- फासीवाद के मूल सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।
- फासीवाद का साम्यवाद से अन्तर समझ सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

हमने इकाई–20 में सर्वाधिकारवाद का अध्ययन किया जिसमें हमने जाना कि सर्वाधिकारवाद लोकतंत्र और उदारवादी विचारधारा के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है जो व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानते हुए सम्पूर्ण शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहती है। फासीवाद को प्रायः

सर्वाधिकारवाद का दक्षिणपंथी रूप कहा जाता है क्योंकि साम्यवाद के विपरीत ये पूंजीवाद का अन्त नहीं करना चाहते और यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। बीसवीं सदी में दक्षिणपंथी सर्वाधिकारवाद के दो प्रमुख रूप उभरकर सामने आये हैं–फासीवाद और नाजीवाद। फासीवाद का प्रादुर्भाव मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में हुआ था तथा नाजीवाद का विकास एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में हुआ। प्रस्तुत इकाई में हम फासीवाद का अर्थ, विकास, विशेषताएँ समझने के साथ ही साथ इसकी साम्यवाद व लोकतंत्र से भिन्नता भी समझ सकेंगे।

21.2 फासीवाद का अर्थ

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के पश्चात् मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में जिस विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ उसे फासीवाद (Fascism) के नाम से जाना जाता है। फासीवाद अंग्रेजी शब्द फासिज्म (Fascism) का हिन्दी रूपान्तरण है जिसकी व्युत्पत्ति इटालियन भाषा के शब्द 'फासियो' (Fascio) से हुई है जिसका अर्थ लकड़ियों के बँधे हुए बण्डल व कुल्हाड़ी होता है। प्राचीनकाल में रोम का राजचिन्ह फासियो था जिसमें लकड़ियों का बँधा गट्ठर राष्ट्रीय एकता और कुल्हाड़ी शक्ति का प्रतीक थी। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली के फासी दल ने इसी चिन्ह का प्रयोग किया जो इस बात का सूचक था कि फासीदल का लक्ष्य वर्ग संघर्ष पर आधारित समाजवादी समाज व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियंत्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता पर आधारित समाज व्यवस्था है। कालान्तर में मुसोलिनी ने इसे ही राज–चिन्ह के रूप में अंगीकृत किया था जिसमें कुल्हाड़ी सत्ता और लकड़ियों का गट्ठर 'एकता में ही शक्ति होती है' का सूचक बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त इटली में जन्मी यह विचारधारा जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को अपरिमित, असीम और अमर्यादित अधिकार प्रदान करती है, और इस प्रकार यह अधिनायक तंत्र का ही एक रूप है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक राजनीतिज्ञों की यह मान्यता थी कि लोकतंत्र की स्थापना से विश्व में शांति स्थापित हो जायेगी और प्रथम विश्वयुद्ध को लोकतंत्र की रक्षा हेतु लड़ा जाने वाला युद्ध कहा गया। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त विश्व के अनेक देशों में लोकतंत्र का अन्त हुआ और संसदात्मक व्यवस्था का अंत करने वाला विश्व का प्रथम देश इटली बना जिसका नेतृत्व मुसोलिनी कर रहा था। मुसोलिनी के दल का नाम फासीदल था इसीलिए मुसोलिनी और उसके दल की विचारधारा को फासीवाद कहा जाता है। फासीवाद लोकतंत्रीय धारणाओं और आदर्शों का विरोधी है तथा उदारवाद एवं समाजवाद के विपरीत अंतर्राष्ट्रीय शांति का शत्रु और युद्ध को गौरव प्रदान करने वाला है। फासीवाद का एक ही नारा है–एक राष्ट्र, एक दल एवं एक नेता। यद्यपि मूलरूप से इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में इसका जन्म हुआ परन्तु इसकी थोड़े परिवर्तनों सहित पुनरावृत्ति हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में हुई जिसे हिटलर का फासीवाद या नाजीवाद के नाम से जाना जाता है।

21.3 फासीवाद का विकास

फासीवाद उदारवादी व्यवस्था के विरूद्ध बीसवीं शताब्दी का क्रान्तिकारी, सर्वाधिकारवादी विद्रोह है। इटली वह प्रथम देश है, जिसने फासीवाद को अपनाया। प्रथम विश्वयुद्ध में इटली विजयी मित्र राष्ट्रों के साथ था परन्तु युद्ध के पश्चात् पेरिस शान्तिवार्ता में उसे समुचित अंश प्राप्त नहीं हुआ विशेष रूप से उसे वे क्षेत्र नहीं मिले जिनकी वह माँग कर रहा था। परिणामस्वरूप इटलीवासी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वयं को अपमानित महसूस कर रहे थे। साथ ही साथ युद्ध के कारण इटली में गम्भीर आन्तरिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी जैसे—मुनाफाखोरी, युद्ध के अतिशय व्यय की पूर्ति हेतु मुद्रास्फीति, वेतनवृद्धि के लिए हड़तालें, बढ़ती हुई बेरोजगारी, राष्ट्रीय बजट में निरन्तर बढ़ता घाटा तथा युद्ध से वापसी करने वाले सैनिकों में असंतोष। इटली की तत्कालिक सरकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इटली का संघर्ष सफल बनाने तथा आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में अयोग्य सिद्ध हो रही थी जिससे जनता का तत्कालिक संस्थाओं एवं नीतियों में अविश्वास उत्पन्न हुआ तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद का जन्म हुआ।

मुसोलिनी का उद्‌भव इटली की एकता के समर्थक के रूप में हुआ। वह इटली में व्यवस्था, अनुशासन तथा एक मजबूत सरकार के पक्ष में था। वह इटली को प्राचीन रोमन साम्राज्य का गौरव पुनः प्रदान करना चाहता था। उसके अनुसार उत्तरदायी सरकार एक विलासिता है जिसे इंग्लैण्ड, अमेरिका व फ्रांस जैसे धनी देश अपनाने की सामर्थ्य रखते हैं न कि इटली जैसे निर्धन देश।

1920 के अन्त तक फासीवादी दल की सदस्य संख्या बहुत कम थी, किन्तु वे अत्यधिक उग्र थे परन्तु 1922 के प्रारम्भ तक उनकी संख्या में वृद्धि होने लगी। अगस्त 1922 में इटली में एक आम हड़ताल की घोषणा की गयी और फासीवाद को जनता का समर्थन प्राप्त करने का एक समुचित अवसर मिल गया। समस्त आवश्यक सेवाओं को अपने नियंत्रण में कर फासीवादियों ने 24 घण्टे के अन्दर हड़ताल समाप्त करवा दी तथा अधिकांश जनता का समर्थन व विश्वास प्राप्त कर लिया। 28 अक्टूबर, 1922 को फासीवादियों के समूह रोम पहुँचने लगे जिसकी समाप्ति सम्राट द्वारा मुसोलिनी को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्ति द्वारा हुई। मुसोलिनी ने प्रांरभ में तत्कालिक राजनीतिक संस्थाओं के वाह्य रूप में कोई विशेष परिवर्तन किये बिना इटली के गणतंत्र को अपनी व्यक्तिगत तानाशाही में परिवर्तित करना आरम्भ कर दिया। उसका उद्‌देश्य राजनीतिक सत्ता पर फासीवादी दल का नियंत्रण कर अपना आधिपत्य स्थापित करना था। प्रारम्भ में उसके मंत्रिमंडल में विभिन्न दलों के सदस्य होते थे परन्तु 1926 के पश्चात् वे पूर्णतया फासीवादी हो गये। अनेक अधिनियमों द्वारा मंत्रिमंडल का संसद के प्रति उत्तरदायित्व समाप्त कर दिया गया। मुसोलिनी शासनाध्यक्ष व तानाशाह बन बैठा। उसे आदेश जारी करने का अधिकार था जो कि कानून के समान प्रभावी होते थे। वह नाममात्र के लिए सम्राट के प्रति उत्तरदायी था। मंत्रिमंडल के सदस्य उसके सहयोगी नहीं वरन् अधीनस्थ थे। नवम्बर 1926 में फासीवादी दल के अतिरिक्त अन्य सभी दलों का दमन कर दिया गया। मुसोलिनी फासीवादी दल तथा फासीवादी सरकार दोनों का प्रमुख बन गया।

उधर जर्मनी में भी आर्थिक पराभव हुआ। जर्मन मुद्रा का मूल्य गिरता जा रहा था जिसका परिणाम मुद्रास्फीति था। बेरोजगारी बढ़ती जा रही थी। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय तथा वर्साई की संधि के कारण हुए अपमान से जर्मनी जल रहा था। ऐसे ही समय में नवंबर 1918 में मजदूर वर्ग ने वहाँ

समाजवादी क्रान्ति की, जिसे सुधारवादी समाजवादियों द्वारा असफल बना दिया गया। 1920 में जर्मनी में नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्क्स पार्टी (नाजी दल) की स्थापना हुई और दल ने आकर्षक 25 सूत्रीय सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रम दिया। 1919 से 1933 तक जर्मनी में सरकारों की अस्थिरता बनी रही और कम से कम 31 मंत्रिमंडल सत्तासीन और सत्ताहीन हुये। हिटलर की पुस्तक 'मेरा संघर्ष' जिसमें उसने जर्मनी के भविष्य की रूपरेखा प्रस्तुत की थी अत्यन्त लोकप्रिय हुई और नाजीदल की भी लोकप्रियता बढ़ती गयी। 1933 के संसदीय चुनावों में नाजीदल को 288 सीट मिली और जनवरी 1933 में राष्ट्रपति ने हिटलर को जर्मनी का चांसलर नियुक्त कर सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया और नाजीदल राजनीतिक सत्ता का स्वामी बन गया। चुनावों ने हिटलर, उसके हथियार बन्द तूफानी दस्तों ने विपक्षी दलों को आतंकित किया और गहरे आतंक की छाया में हुए चुनाव में हिटलर ने लोकतंत्रीय तथा संवैधानिक तरीके से सत्ता पर अधिकार कर लिया। सत्ता प्राप्ति के बाद हिटलर ने निर्दयता से विपक्षी दलों को समाप्त कर दिया, विभिन्न स्वतंत्रताएँ छीन ली गयीं और आर्य जाति की उच्चता के नाम पर अंधराष्ट्रवादी हिटलर ने 60 लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध हिटलर की अंधराष्ट्रवादी तथा साम्राज्यवादी नीति का परिणाम था। जर्मनी की हार के बाद हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

जर्मनी में नाजियों की सफलता के परिणामस्वरूप कुछ अन्य देशों में फासीवादी अथवा अर्धफासीवादी शासन परिवर्तन हुए–1933 में आस्ट्रिया में, 1934 में बुल्गारिया में तथा 1936 में स्पेन में। 1930 तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जापान, इजिप्ट, घाना, दक्षिणी अफ्रीका, अर्जेण्टाइना तथा चिली के सैनिक, राष्ट्रवादी तथा तानाशाही शासन व्यवस्थाओं को भी फासीवादी कहा जाता है।

21.4 फासीवाद के स्रोत

फासीवाद अनेक तत्वों से प्रभावित विचारधारा है। श्री ओ0पी0 गाबा के अनुसार फासीवाद प्रारंभ में व्यक्तिवाद (Individualism) और राज्यसत्तावाद (Etatism) में से कभी किसी को अपनाता रहा, कभी किसी को। बाद में उसने राज्य सत्तावाद को पूरे मन से स्वीकार कर लिया। इसी तरह पहले वह लोकतंत्र (Democracy) और सत्तावाद (Authoritarianism) में भी दोनों को स्वीकारता रहा परन्तु बाद में सत्तावाद को अंतिम रूप से अपना लिया। 19वीं शताब्दी में राज्यसत्तावाद और सत्तावाद की पैरवी अनेक दृष्टिकोण से की जाती थी जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे और फासीवाद ने इन सबसे प्रभावित हो एक नयी विचारधारा उत्पन्न की। मैक्गवर्न (McGovern) ने लिखा है कि फासीवाद तथा नाजीवाद पर चार विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा–(1) सामाजिक डार्विनवाद जिसमें गम्प्लोविज (Gumplowicz), बैजहट (Bagehot) आदि विचारक सम्मिलित हैं। (2) अबौद्धिकवाद जिसके अन्तर्गत जेम्स, सोरेल, वर्गसाँ, नीत्शे इत्यादि दार्शनिक आते है। (3) परंपरावाद जिसके मुख्य प्रवर्तक मैजिनी, ट्रीट्श्के, हीगल इत्यादि हैं। (4) आदर्शवाद जिसमें कान्ट, तथा हीगल प्रमुख हैं। इन चारों विचारधाराओं में फासीवाद के स्रोत पाये जाते हैं यद्यपि आवश्यकतानुसार फासीवादियों ने उनमें परिवर्तन किया है। संक्षेप में उपर्युक्त चार विचारधाराओं का वर्णन निम्नवत् है–

1. सामाजिक डार्विनवाद–चार्ल्स डार्विन ने प्रकृति में निरन्तर चलने वाले कठिन जीवन संघर्ष और योग्यतम प्राणी के जीवित रहने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और उसे प्रसिद्ध समाजशास्त्री गम्प्लोविज आदि कुछ विचारकों ने सामाजिक क्षेत्र में लागू करते हुए कहा कि यह संघर्ष केवल

व्यक्तियों के मध्य ही नहीं वरन् समुदायों में भी होता है और वही समुदाय विजयी होते हैं, जो शक्तिशाली, सुदृढ़ और अनुशासनबद्ध हों। इसे ही सामाजिक डार्विनवाद कहा जाता है। इसी से प्रभावित होकर मुसोलिनी व हिटलर ने संघर्ष को मानव प्रगति का मूलमंत्र माना था। मुसोलिनी राष्ट्रवाद का पुजारी था और हिटलर जाति शुद्धता का। मुसोलिनी और हिटलर दोनों ही नीत्शे द्वारा प्रतिपादित 'एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त करने का संघर्ष ही मानव इतिहास है' से प्रभावित हो युद्ध व साम्राज्यवाद का समर्थन किया।

2. अबौद्धिकवाद—डेकार्ट के बौद्धिकवाद के विपरीत अबौद्धिकवाद विचारधारा यह मानती है कि व्यक्ति विवेक व बुद्धि के स्थान पर अन्तः प्रेरणा (Intuition) अन्धश्रद्धा (Myth) एवं विश्वास से प्रेरित होकर कार्य करता है। नीत्शे के अतिमानव (Superman) और वीरपूजा से प्रभावित हो फासीवाद में अन्धश्रद्धा को अपनाने पर बल दिया गया और दल के नेता को श्रेष्ठ माना गया। मुसोलिनी के अनुसार 'हमारी अन्धश्रद्धा हमारा राष्ट्र है, हमारी अन्धशक्ति हमारे राष्ट्र की महानता है। विश्वास ही पर्वतों को हिला सकता है, तर्क नहीं।' इटली में नारा प्रसिद्ध था— 'मुसोलिनी सदैव ठीक होता है और ठीक कार्य करता है।'

3. परम्परावाद—फासीवाद मैजिनी और ट्रीट्स्के के परम्परावादी दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित है। प्रारम्भ में मुसोलिनी प्राचीन रूढ़ियों, संस्थाओं और मूल्यों का विरोधी था परन्तु 1922 में सत्तासीन होने के पश्चात् उसने उच्चतम राष्ट्रवाद के लिए परम्पराओं की पवित्रता तथा उनके बल पर महत्व दिया। इटली के इतिहास को गौरवपूर्ण बताते हुए उसने कहा कि इटली को पुनः तीसरी बार मानवता का नेतृत्व करना है। राष्ट्र की सुरक्षा हेतु उसने नास्तिक होते हुए भी 1927 में पोप के साथ समझौता किया।

4. आदर्शवाद—फासीवाद पर सबसे अधिक प्रभाव रूसो, काण्ट, फिक्टे और हीगेल के आदर्शवाद का रहा है। फासीवाद को हीगेल के आदर्शवाद का राजनीतिक शिशु भी कहा गया है। फासीवाद भौतिकवाद को अस्वीकार कर 'सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणा' का समर्थन करते हैं और आदर्शवाद से प्रेरित होते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता, नैतिकता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि में फासीवाद पर आदर्शवाद का प्रभाव अधिक है। रूसो, ग्रीन, बोसांके आदि राज्य को समाज की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मानते हैं। फासीवाद कहता है कि राज्य जनता की आत्मा को अभिव्यक्त करता है। फासीवादी दार्शनिक रोक्को, जेन्टाइल आदि ने माना कि राज्य एक राजनीतिक संस्था मात्र न होकर एक आध्यात्मिक एवं नैतिक तथ्य है। फासीवाद मानता है कि व्यक्ति के अस्तित्व का आधार उसके कर्त्तव्य हैं न कि अधिकार। राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हुए व्यक्तियों की निरपेक्ष स्वतंत्रता का विरोध करता है और किसी भी स्थिति में राज्य के विरोध को अस्वीकार करता है।

5. व्यवहारवाद—व्यवहारवादी विचारक जेम्स का मत है कि सत्य की कोई शाश्वत सत्ता नहीं है, परिस्थितियों के अनुसार सत्य बदलता रहता है और स्थिति विशेष में सत्य वही है जो हितकर है। मुसोलिनी ने स्वयं स्वीकार किया कि फासीवाद का मूल आधार व्यवहारवाद ही है।

21.5 फासीवाद के सिद्धान्त

फासीवाद का प्रारम्भ किसी निश्चित दर्शन के आधार पर नहीं हुआ है फिर भी इसकी विशेषताओं अथवा सिद्धान्तों को मुसोलिनी, रोक्को, तथा जेन्टाइल आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। रोक्को फासीवाद में नागरिक जीवन की एक नवीन धारणा और नवीन संस्कृति का प्रारम्भ पाता है। फासीवाद सोरेल से प्रत्यक्ष कार्यवाही के तरीके, नीत्शे से संकल्प से शक्ति, बर्गेस से बुद्धि–विरोध तथा हीगेल से राष्ट्रवाद व सर्वाधिकारवाद को अपनाता है। इस प्रकार अनेक दार्शनिकों से प्रभावित होते हुए भी फासीवाद की अपनी कुछ मान्यताएँ व सिद्धान्त हैं–

1. विवेक के प्रति अविश्वास फासीवाद की सबसे महत्वपूर्ण मान्यता है। यह विवेक विरोधी है और भावनाओं तथा मनोयोगों का सहारा लेता है। प्रत्येक फासीवादी शासन की अपनी कल्पना होती है जैसे जाति, साम्राज्य अथवा नेता जिसके द्वारा लोगों की भावनाओं को उत्तेजित किया जाता है। फासीवाद के अनुसार जीवन का मार्गदर्शन करने वाली शक्ति तर्क या बुद्धि नहीं है बल्कि जीवन की प्रेरक शक्ति भावनाएँ, आवेश, तथा शक्ति–प्राप्ति की इच्छा है। फासीवाद विश्वास श्रद्धा, निष्ठा, आवेश इच्छा जोशीले नारे, वीर पूजा, जातिवाद, अंधराष्ट्रवाद को बढ़ावा देता है। यह बुद्धिवाद का कट्टर विरोधी है।

2. फासीवाद में क्रमबद्ध दर्शन अथवा सुसंगठित सिद्धान्त व विचारधारा का अभाव है। फासीवाद कार्य प्रधान आन्दोलन है। मुसोलिनी के अनुसार 'फासीवाद पूर्व विचारित किसी सिद्धान्त का पोषण नही करता है। यह क्रियात्मक आवश्यकता के परिणामस्वरूप पैदा हुआ है।' फासीवाद का कोई वैचारिक संस्थापक नहीं था। मुसोलिनी, एल्फ्रेडो, जेण्टाइल, एनरिको, रोक्को, कोरेडिनी जैसे फासीवाद के अनेक सिद्धान्तकारों ने इसको सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया और इनमें से मुसोलिनी को फासीवादी विचारधारा के निर्माण में प्रमुख योगदान देने का श्रेय दिया जाता है और स्वयं मुसोलिनी ने किसी एक विचारधारा या सिद्धान्त का समर्थन न करते हुए कहा है 'देशकाल और वातावरण की परिस्थितियों के अनुसार हम कुलीनतंत्रीय या जनतंत्रीय, रूढ़िवादी या प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी या क्रांतिकारी तथा नियमवादी या अनियमवादी सभी कुछ हो सकते हैं। वास्तव में उद्देश्य प्राप्ति हेतु फासीवाद विचारों में परिवर्तन करते हैं और उसके पश्चात् सिद्धान्त निर्माण करते हैं।

3. फासीवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता तथा अधिकारों के सिद्धान्त को राष्ट्र को दुर्बल बनाने वाले सिद्धान्त कहकर अस्वीकार करता है और इनके स्थान पर राष्ट्र के आंगिक पद सोपान की प्रणाली पर संगठित राष्ट्र की धारणा को स्वीकार करते हैं जिसमें कुछ तेजस्वी तथा कुशाग्र बुद्धि नागरिक सामान्य जनता को अपनी आज्ञाकारिता में रखते हैं। जिससे नागरिकों के स्वार्थी हितों के स्थान पर व्यापक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हो सके। लोकतंत्र के 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के स्थान पर फासीवाद 'उत्तरदायित्व, अनुशासन एवं पदसोपान व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार करते हैं। फासीवाद स्वतंत्रता को अधिकार के रूप में नहीं वरन् कर्तव्य के रूप में समर्थन प्रदान करते हैं अर्थात् स्वतंत्रता का अर्थ विधि के प्रति अधीनता तथा राज्य के द्वारा प्रदत्त एक सुविधा है। जहाँ तक समानता की बात है फासीवाद न केवल व्यक्तिगत समानता को अस्वीकार करता है

वरन् मानवीय असमानता को स्वीकार करता है। मानवीय असमानता श्रेष्ठता व हीनता के रूप में स्पष्ट होती है तथा फासीवादियों के अनुसार पुरुष स्त्रियों से, सैनिक असैनिकों से, दलीय सदस्य निर्दलीय सदस्यों से, शक्तिशाली दुर्बल से, युद्धों में विजयी पराजितों से श्रेष्ठ है।

4. फासीवाद राज्य में 'एक दल रहता है जिसमें राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ केन्द्रित रहती हैं जो नीतियों का निर्धारण करता है तथा सम्पूर्ण प्रशासन को नियन्त्रित करता है। अन्य अतिरिक्त दलों का दमन कर दिया जाता है। फासीवादी दल एक नेता के निर्देशन और नियंत्रण में कार्य करता है। फासीवादियों का मानना था कि सम्पूर्ण शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहनी चाहिए क्योंकि सर्वसाधारण जनता अपने नेता द्वारा ही सोच सकती है और कार्य कर सकती है।

5. फासीवाद सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थक है। फासीवाद राज्य को समस्त क्षेत्रों पर नियंत्रण का अधिकार देता है अर्थात राज्य को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में सर्वोच्च मानता है। मुसोलिनी के अनुसार राज्य एक नैतिक एवं जीवित प्रणाली है जो वर्तमान में ही जीवित नहीं रहता, वरन् अतीत और भविष्य में वैध है,' उसके हस्तक्षेप और नेतृत्व से कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहता था। मुसोलिनी की मान्यता थी कि 'सब राज्य के अन्तर्गत, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरूद्ध कुछ नहीं।' फासीवाद व्यक्ति को राज्य के अधिनायकवादी स्वरूप में पूर्ण विश्वास रखने का आदेश देता है और जैसा कि टीट्स्के ने कहा 'दण्डवत होकर राज्य की पूजा करनी चाहिए।

6. फासीवाद अंध एवं उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करता है और उसके अनुसार राष्ट्र या राष्ट्र की महानता कल्पित धारण (Myth) है और संप्रभुता का निवास स्थल कोई व्यक्ति या संघ न होकर राष्ट्र है। मुसोलिनी के अनुसार राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जिसमें नस्ल, भाषा, संस्कृति तथा सभ्यता की समानता पायी जाती है। राष्ट्र ऐसा सावयवी जीव है जो लगातार बहुत पीढ़ियों तक विकसित होने के पश्चात् पूर्णता प्राप्त करता है। वह राष्ट्र को स्वयं में आत्मनिर्भर मानता है। फासीवाद अपने लोगों को एकताबद्ध, शक्तिशाली तथा अनुशासनबद्ध होने का उपदेश देते हैं ताकि एक शक्तिशाली राज्य बनाया जा सके जो अतीत के वैभव को पुनः स्थापित करने में सक्षम हो। देशभक्ति की भावनाओं को प्रेरित करने के लिए महान अतीत का महिमा मंडन किया जाता है। मुसोलिनी ने भी प्राचीन काल के महान रोमन साम्राज्य को पुनः स्थापित करने का लोगों से आह्वाहन किया। हिटलर ने भी सर्वजर्मनवाद के नाम पर वैसा ही किया तथा इस हेतु आस्ट्रिया व चैकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता का हनन किया। 'विस्तार करो या नष्ट हो जाओ' फासीवाद राज्य का मूलमंत्र है।

7. फासीवाद स्त्रियों को अधिकार व स्वतंत्रता देने का विरोधी है। नाजीवाद में स्त्रियों को घर की चाहारदीवारी तक सीमित रहने की बात कही गई है। उनके अनुसार स्त्रियों को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। वे स्त्रियों को शिक्षा देने के विरूद्ध हैं। फासीवादियों के अनुसार चूंकि स्त्रियाँ शस्त्र नहीं धारण कर सकतीं अतः, फासीवादी राज्य में उन्हें द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाना चाहिए और न तो सरकार और न ही दल में उन्हें उत्तरदायित्व के पद मिलने चाहिए। उन्हें मत देने का अधिकार है, परन्तु फासीवादी राज्य में एक दल व एक नेता के विचार को

स्वीकृति मिलती है। अतः इस अधिकार का वास्तविकता में कोई महत्व नहीं है। यहाँ तक कि परिवार में भी पति को पत्नी तथा बच्चों पर सत्तावादी नेतृत्व प्राप्त है। नाजी जर्मनी ने स्त्रियों के प्रति अपनी उग्रतम घृणा का प्रदर्शन करते हुए विवाह की संस्था को अस्वीकार कर जर्मन स्त्रियों को बिना विवाह किये राज्य के लिए अधिक से अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रोत्साहित किया।

8. फासीवाद उग्रराष्ट्रवाद का समर्थक होने के साथ ही साथ युद्ध और हिंसा का पुजारी है। यह अन्तर्राष्ट्रीयता एवं शान्ति का विरोधी है। फासीवाद के अनुसार युद्ध मानवता का विरोधी नहीं वरन् राज्यों को स्वस्थ रखने का साधन है। युद्ध राज्य के लिए वैसा ही है जैसा कि नारी के लिए मातृत्व। फासीवाद के लिए युद्ध व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चरित्र को शुद्ध करने का साधन है। हिटलर ने कहा था' युद्ध सदाबहार तथा विश्वव्यापी है। युद्ध जिन्दगी है। हर संघर्ष युद्ध है, हर चीज की उत्पत्ति युद्ध के माध्यम से हुई है।' युद्ध से नागरिकों का मनोबल बढ़ता है तथा अनुशासन और एकता की भावना मजबूत होती है। फासीवाद के युद्ध–प्रेम का मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार यह देश की जनता का ध्यान देश के अंदर के हालात से हटाकर देश की सीमाओं पर टिका देता है। इस प्रकार फासीवाद विश्व शांति का सबसे खतरनाक दुश्मन है।

9. युद्ध प्रेम एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का विरोधी होने के साथ ही साथ फासीवाद साम्राज्यवाद का समर्थक है। सर्वाधिकारवादी राज्य साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देते हैं और सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थक होने के कारण फासीवाद भी साम्राज्यवादी विस्तार में विश्वास रखते हैं। वे साम्राज्यवाद को एक शक्तिशाली तथा विकसित राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। उनके अनुसार राष्ट्र को अपने साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिए। इटली में फासीवादियों का मानना था कि साम्राज्यवादी विस्तार ही इटली के विकास का मार्ग है। मुसोलिनी के अनुसार इटली का विस्तार जीवन तथा मृत्यु का प्रश्न है या तो उसका विस्तार होना चाहिए या उसको नष्ट हो जाना चाहिए। उसके लिए साम्राज्यवाद जीवन का शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील नियम है।

10. फासीवाद जातीय श्रेष्ठता अथवा रक्तीय शुद्धता की मिथ्या धारणा में विश्वास करता है। हिटलर ने अन्य जातियों के ऊपर जर्मन नागरिक जाति को श्रेष्ठ कहा और सामान्यतः इसका अभिप्राय नागरिक तथा राजनीतिक स्तर का श्रेणीकरण था जिसमें कि शक्ति व विशेषाधिकार जर्मन जाति के लिए आरक्षित थे और अन्य जातियाँ उसके नीचे अवरोही क्रम में थीं। हिटलर ने नोर्डिक लोगों को आर्यों की नस्ल कहा तथा यहूदियों को मिश्रित रक्त वाला कहकर निंदा की तथा जर्मनी में नाजियों द्वारा अमानवीय ढंग से यहूदियों का नरसंहार किया। यद्यपि प्रारम्भ में मुसोलिनी जातीय या नस्लीय श्रेष्ठता का पक्षकार नहीं था परन्तु 1936 के उपरान्त वह भी इसका समर्थक बन गया और उसने सगर्व रोमन नस्ल की श्रेष्ठता घोषित की। फासीवादी अपनी साम्राज्यवादी नीति व आक्रमणों का 'असभ्यों को सभ्य बनाने' के नाम पर न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

11. फासीवाद आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण राष्ट्रहित के लिए करता है। यह आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का उसी प्रकार खण्डन करता है जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में करता है। फासीवाद व्यक्तिवाद का खण्डन करने के

साथ ही साथ समाजवाद व साम्यवाद का भी विरोध करता है। फासीवाद समाजवादियों द्वारा पूंजीवाद की बताई गई दुर्बलताओं को स्वीकार करता है परन्तु समाजवादी समाधान पूंजीवादी वर्ग की समाप्ति को स्वीकार नहीं करता। फासीवाद मानता है कि राष्ट्रीय उत्पादन को उच्चतम स्तर तक ले जाने के लिए पूंजीवादी वर्ग की आवश्कता है। यह आर्थिक समृद्धि के लिए श्रमिक वर्ग एवं पूंजीपति वर्ग के बीच सामंजस्य पूर्ण सहयोग आवश्यक मानता है। न तो यह उद्योगों को श्रमिक संघों के नियंत्रण में जाने देने का पक्षपाती है और न ही यह उद्योगपतियों को उद्योगों पर अपने वैयक्तिक हितों हेतु स्वामित्व देने का पक्षधर है। फासीवाद अपना नया विचार देता है राष्ट्रीय हित के लिए वर्ग सहयोग, अधिकतम उत्पादन एवं औद्योगिक शान्ति।

12. फासीवाद निगमात्मक राज्य की स्थापना करने में विश्वास करता है। फासीवाद की मान्यता है कि राज्य का निर्माण व्यक्तियों द्वारा न किया जाकर राष्ट्र की सर्वोच्चता में विश्वास करने वाले समुदायों के द्वारा किया जाता है। फासीवाद विभिन्न व्यवसायों के पृथक संगठन बनाने के पक्षकार थे किन्तु उनका कहना है कि ये सब राज्य के अधीन होने चाहिए जो उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करे। वस्तुतः निगमात्मक राज्य के द्वारा व्यक्तिवाद व समाजवाद के दोषों को दूर करते हुए बीच का मार्ग निकालने का प्रयास किया गया है। निगमात्मक राज्य के लिए फासीवाद दो प्रकार की संस्थाओं की व्यवस्था करता है– सिंडीकेट तथा निगम। प्रत्येक व्यवसाय के लिए प्रत्येक जिले में दो सिण्डीकेट होंगे जिसमें एक में स्वामी तथा दूसरे में श्रमिक होंगे। प्रत्येक जिले में सिण्डीकेटों को मिलाकर विभिन्न उद्योगों का राष्ट्रीय संघ होगा तथा स्वामियों एवं श्रमिकों के मतभेदों के निराकरण हेतु तीन संस्थाएं– सिण्डीकेट, राष्ट्रीय संघ एवं राष्ट्रीय महासंघ होंगे। सिण्डीकेटों के अतिरिक्त 22 निगम होंगे। जिसमें स्वामी व श्रमिकों के अतिरिक्त राज्य द्वारा नियुक्त उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि भी होंगे। इन निगमों की एक केन्द्रीय समिति होगी जिसका अध्यक्ष राज्य का प्रधान (स्वयं मुसोलिनी) होगा। इस निगमात्मक राज्य में नागरिक की राजनीतिक जीवन में कोई भागीदारी नहीं होगी सबकी अपने व्यवसाय के माध्यम से अप्रत्यक्ष भागीदारी संभव है। इस राज्य में निजी उद्योग प्रोत्साहित किया जायेगा। पूरे राज्य की अर्थव्यवस्था निगम के अधिकार में होगी। इस प्रकार फासीवाद अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत, सामूहिक एवं श्रमिकों के हितों में सामंजस्य लाना चाहता है।

13. फासीवाद लोकतंत्र का कट्टर विरोधी है। यह लोकतंत्र को एक ओर कमजोर राजनीतिक व्यवस्था, जाहिलों का शासन कहता है और लोकतांत्रिक मूल्यों की अवहेलना करता है। जनता द्वारा शासन के सिद्धान्त के विपरीत यह एक विशिष्ट वर्ग अर्थात् एक छोटे शासकीय वर्ग द्वारा शासन का सिद्धान्त प्रस्तावित करते हैं। मुसोलिनी व हिटलर दोनों ही आम जनता से घृणा करते थे। हिटलर के अनुसार किसी भी राष्ट्र का बहुसंख्यक वीर व बुद्धिमान नहीं होता, अच्छा या बुरा न होकर औसत दर्जे का होता है तथा बौद्धिक एवं वैज्ञानिक तर्कों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह बहुसंख्यक वर्ग केवल घटिया और तीक्ष्ण भावनाओं–घृणा, मदान्धता तथा उन्माद से प्रभावित होता है। इसके विपरीत विशिष्ट वर्ग अथवा शासकीय वर्ग होता है जो स्वाभाविक रूप से कुलीन होता है। वह बुद्धि व निर्देशन प्रदान करता है। विशिष्ट वर्ग के चयन की प्रक्रिया शक्ति

के लिए निरन्तर संघर्ष से होती है। इस प्रक्रिया से जातीय रूप से योग्य शासकीय वर्ग का उद्‌भव होता है जो जनमानस के स्वाभाविक नेता होते हैं।

21.5.1 फासीवादी कार्यविधि

अपने राजनीतिक उद्‌देश्यों को पूरा करने के लिए फासीवादी हिंसा का सहारा लेते हैं। फासीवादियों के लिए हिंसा किसी वस्तु को प्राप्त करने का एक छोटा मार्ग है जो कि शान्तिपूर्ण तरीकों से या तो प्राप्त नहीं की जा सकती अथवा देर में प्राप्त की जा सकती है। 1922 में आम हड़ताल के दमन करते हुए मुसोलिनी ने कहा था 'अड़तालीस घंटों तक हिंसा का प्रयोग करने के बाद हमने उससे जो परिणाम प्राप्त किए हैं उन्हें हम अड़तालीस वर्षों तक उपदेश एवं प्रचार करके भी प्राप्त नहीं कर सकते थे।'

विरोधियों का पूर्ण विनाश फासीवादियों की दूसरी कार्यविधि है। फासीवाद में विरोध व विरोधियों का कोई स्थान नहीं होता और यदि कोई है तो वह शत्रु माना जाता है और शत्रु का पूर्ण विनाश ही फासीवाद का मुख्य ध्येय होता है।

फासीवादी शासन व्यवस्था द्वारा तीसरा तरीका प्रयोग में लाया जाता है वह है नजरबन्दी शिविर तथा श्रम शिविर। जो लोग शासन का विरोध करते हैं उन्हें इन शिविरों में भेज दिया जाता है जहाँ उनसे कठोर श्रम लिया जाता है और उनका ब्रेनवाश किया जाता है। इन शिविरों का प्रयोग उन लोगों की हत्या के लिए भी किया जाता है जो शासन का अनुग्रह प्राप्त करने में असफल होते हैं।

फासीवादी झूठ के प्रयोग पर बल देते हैं। फासीवादी सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी झूठ को सौ बार दुहराया जाय तो वह सच बन जाता है।

21.5.2 फासीवादी शासन की विशेषताएं

डॉ0 लॉरेन्स ब्रिट (Dr. Lawrence Britt) ने हिटलर (जर्मनी), मुसोलिनी (इटली), फ्रैंको (स्पेन), सुहार्तो (इण्डोनेशिया) और कई लैटिन अमेरिकी देशों की फासीवादी सत्ताओं का परीक्षण किया और उन्होंने 14 विशेषताएं बताईं जो सभी शासनों में विद्यमान थीं–

1. शक्तिशाली और स्थायी राष्ट्रवाद–फासीवादी शासन देशभक्ति सम्बन्धी आदर्श वाक्य, स्लोगन, चिन्ह, गीत और अन्य सामग्रियों का निरंतर प्रयोग करते हैं। इनके प्रतीक चिन्ह हर जगह देखे जा सकते हैं यथा कपड़ों पर चिन्ह के रुप में और सार्वजनिक स्थानों पर प्रदर्शन के रूप में।

2. मानवाधिकारों की मान्यता की अवहेलना–शत्रुओं के भय और सुरक्षा की आवश्यकता के कारण फासीवादी राज्य में जनता को यह मानने के लिए बाध्य किया जाता है कि कुछ निश्चित मामलों में आवश्यकता के अनुरूप मानव अधिकारों की अवहेलना की जा सकती है। जनता को दूसरा पक्ष देखने को मजबूर किया जाता है और यहाँ तक कि अत्याचार को स्वीकार करने, हत्याओं, त्वरित फाँसी तक को स्वीकार किया जाता है।

3. सेना की सर्वोच्चता–व्यापक घरेलू समस्याओं की विद्यमानता के उपरान्त भी सेना को सरकारी कोष से अनुचित अनुपात में धन उपलब्ध कराया जाता

है और घरेलू आवश्यकताओं की अवहेलना की जाती है। सैनिकों और सैन्य सेवाओं को गौरव प्रदान किया जाता है।

4. जन संचार साधनों का नियंत्रण—कभी मीडिया को सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित किया जाता है और कभी सरकारी अधिनियमों द्वारा अप्रत्यक्ष रुप से। सरकार के प्रति सहानुभूति रखने वाला मीडया जनता और कार्यपालकों से बात करता है। सेन्सरशिप विशेष रूप से युद्ध काल में बहुत सामान्य बात है।

5. राष्ट्रीय सुरक्षा की सनक—सरकार द्वारा भय को एक प्रेरक यंत्र के रूप में जन समूह के ऊपर प्रयोग किया जाता है।

6. धर्म और सरकार अन्तर्सम्बन्धित हैं—फासीवादी राष्ट्रों में सरकारों द्वारा धर्म को जनमत निर्माण को प्रभावित करने के यंत्र के रुप में प्रयुक्त किया जाता है। धार्मिक वाकपटुता और शब्दावली सरकारी नेताओं के लिए आम बात है। यहाँ तक कि तब भी जब धर्म के प्रमुख तत्व या सिद्धान्त सीधे रुप से सरकार की नीतियों तथा कार्यों का सीधा विरोध करते हों।

7. मजदूर शक्ति को कुचल देना—चूँकि फासीवादी सरकार को संगठित मजदूर शक्ति से केवल वास्तविक खतरा है इसलिए या तो मजदूर संघों को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाता है या फिर बुरी तरह कुचल दिया जाता है।

8. अपराध और दण्ड के प्रति अति जोश—फासीवादी शासन में पुलिस को कानूनों को लागू करने हेतु असीमित अधिकार प्रदान किये जाते हैं। लोग अक्सर पुलिस अत्याचार को अनदेखा करने की इच्छा रखते हैं और यहाँ तक कि देशभक्ति के नाम पर नागरिक स्वतंत्रओं को त्यागने के लिए तत्पर रहते हैं।

9. कला और बुद्धिजीवियों की अवहेलना—फासीवादी राष्ट्र उच्च शिक्षा एवं शिक्षा जगत का खुला विरोध करते हैं। प्रोफेसर और अन्य शिक्षाविद्ों पर प्रतिबन्ध और उनकी गिरफ्तारी कोई असामान्य बात नहीं है। कला और साहित्य में स्वतंत्र अभिव्यक्ति का कठोर विरोध होता है।

10. कार्पोरेट शक्ति की रक्षा—फासीवादी राज्य में औद्योगिक एवं व्यावसायिक कुलीनतंत्रता अक्सर सरकारी नेताओं को सत्ता प्रदान करती है। जिससे व्यावसायिक/सरकारी और शक्ति अभिजनों के मध्य पारस्परिक लाभप्रद सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

11. एकीकरण हेतु शत्रुओं/बलि के बकरों की पहचान—जनता को एकीकृत करने एवं देशभक्ति की भावना हेतु शत्रुओं को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है— जातीय, धार्मिक, अल्पसंख्यक, उदारवादी, साम्यवादी, समाजवादी, आतंकवादी आदि शत्रु के रुप में देखे जाते हैं।

12. फासीवादी राज्यों में सरकार लगभग पुरूष प्रधान होती है। फासीवादी शासन में पारम्परिक लैंगिक भूमिका और कठोर बना दी जाती है। तलाक, गर्भपात और समलैंगिकता का दमन किया जाता है और राज्य को परिवार रूपी संस्था के अन्तिम संरक्षक के रूप में प्रतिबिम्बित किया जाता है।

13. फासीवादी शासन लगभग प्रायः मित्रों एवं सहयोगियों के समूह द्वारा शासित होता है जो सरकारी पदों पर एक दूसरे को नियुक्त करते हैं और

सरकारी शक्ति और सत्ता का प्रयोग अपने मित्रों को जवाबदेही (accontibility) से बचाने के लिए करते हैं। फासीवादी राज्य में यह असामान्य नहीं है। राष्ट्रीय संसाधन और यहाँ तक कि कोष को सरकारी नेताओं द्वारा अलग कर दिया जाता है या प्रत्यक्षतः हड़प लिया जाता है।

14. कभी–कभी फासीवादी राज्यों में निर्वाचन पूर्णत्या पाखण्ड होते हैं। निर्वाचनों में जोड़–तोड़ होता है या गलत प्रचार या विपक्षी उम्मीदवारों की हत्या, मतदान संख्या या राजनीतिक जिलों की सीमा को नियंत्रित करने हेतु विधायन का प्रयोग किया जाता है और मीडिया में भी जोड़–तोड़ की जाती है। निर्वाचन को नियंत्रित या जोड़–तोड़ करने हेतु न्यायपालिका का भी विशिष्ट रूप से प्रयोग किया जाता है।

21.6 फासीवाद की आलोचना

फासीवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने से पूर्व हमें इसकी कुछ उपलब्धियों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए। फासीवाद के प्रशंसक तत्कालीन परिस्थितियों में इटली में मुसोलिनी के कार्यों की प्रशंसा करते हैं। इटली में फासीवाद ने तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक–प्रभावी प्रशासन, आन्तरिक शांति व सुरक्षा, राष्ट्रीय वित्त में वृद्धि, औद्योगिक प्रतिष्ठानों का अनुशासनपूर्ण प्रबंध तथा अधिक उत्पादन, राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों का प्रभावी दोहन, श्रम व पूंजी में सौहार्द एवं सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध, संचार के बेहतर साधन, सड़कों, पुलों और नालियों की बेहतर व्यवस्था। मुसोलिनी के आविर्भाव से पूर्व इटली पतन की अवस्था में था परन्तु फासीवादी नेताओं ने उत्थान और नई एकता उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। फासीवादी शासन में इटली का सरकारी तंत्र अत्यधिक प्रभावी था। शीघ्र निर्णय लिये गये और ज्यादातर प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किये गये। इटली यह सिद्ध करने में सफल रहा कि शीघ्र निर्णय लेने और उनके प्रभावी क्रियान्वयन में संसदीय शासन की तुलना में अधिनायक व्यवस्था अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।

यद्यपि इटली में फासीवाद के सन्दर्भ में कही गयी उपर्युक्त बातें सत्य हैं किन्तु फासीवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। फासीवाद की आलोचना के विविध आधार निम्नवत हैं–

1. फासीवाद कोई सुसंगत विचारधारा नहीं है। यह अस्पष्ट है। यह विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किये हुए विचारों का वह समूह है जो परिस्थितियों के अनुसार अनुकूल करने के लिए एक सूत्र में बाँध दिया जाता है। इसमें हीगल के राष्ट्रवाद, प्लेटो के कुलीनतंत्रीय शासन, बर्गसां का अबौद्धिकवाद तथा नीत्शे की शक्ति की इच्छा को एक राजनीतिक दर्शन में समाहित करने का प्रयास किया और इसलिए अस्पष्ट व असंगत बना रहा।

2. फासीवाद लोकतंत्र का विरोधी है। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार राज्य साध्य हैं और व्यक्ति साधन। स्वतंत्रता, समानता तथा व्यक्ति के अधिकारों का विरोध करते हुए फासीवाद में सर्वोच्च नेता के नेतृत्व में सत्ताधारी दल अथवा विशिष्ट शासकीय वर्ग का गौरवगान किया जाता है। न्यायालय व प्रेस की स्वतंत्रता नहीं होती तथा निर्वाचन कार्य मात्र दिखावा होता है। यह प्रगतिशील नहीं प्रतिगामी विचारधारा है।

3. फासीवाद शक्ति पर अधिक विश्वास रखता है। प्रत्येक राजनीतिक क्रिया का श्रेष्ठ साधन शक्ति को मानता है परन्तु शक्ति कभी भी स्थायी और बाध्यकारी परिणाम न देने के रुप में जानी जाती है। किसी भी समाज के लिए शक्ति पर निर्भर रहना और उसे बनाये रखना एक दुष्कर कार्य है। किसी भी सरकार की विश्वसनीयता, स्थिरता एवं स्थायित्व तभी संभव है जब वह जनता की सहमति पर आधारित हो। शक्ति जर्मनी व इटली के फासीवादी राज्यों को बहुत दिनों तक जीवित नहीं रख सकी। जिसे शक्ति उत्पन्न करती है उसे शक्ति ही नष्ट करती है।

4. फासीवाद की स्वतंत्रता तथा समानता के विषय में अवधारणा दोषपूर्ण है। फासीवाद का यह मानना कि स्वतंत्रता मात्र कर्तव्य है और सशक्त राज्य में ही स्वतंत्रता सम्भव है, असत्य धारणा है। सत्यता यह है कि स्वतंत्रता तभी संभव है जब संविधान के अनुसार सीमित शक्तियों का प्रयोग करती है। असीमित सरकार की धारणा में व्यक्ति की स्वतंत्रता संभव नहीं होती है। स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है। इसी प्रकार समानता की अवधारणा का अभिप्राय है कि सभी मनुष्यों को अपनी क्षमता के अनुसार स्वयं के विकास के समान अवसर प्राप्त होना परन्तु फासीवाद व्यक्तियों के कुछ समूह को श्रेष्ठ तथा अन्य को हीन मानते हैं और मानवीय असमानता में विश्वास करते हैं।

5. फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय शांति, संगठन एवं कानून को अस्वीकार करता है जो वर्तमान युग में कोई भी राज्य स्वीकार नहीं करेगा। फासीवाद राष्ट्रों के मध्य युद्ध का समर्थन करते हैं जबकि युद्ध विजयी व पराजित दोनों ही राष्ट्रों के लिए हानिकारक एवं समस्या उत्पन्न करने वाला होता है। अगर फासीवाद द्वारा महिमा मंडित युद्ध को स्वीकार कर लिया जाये तो राष्ट्र का विकास बाधित होता है क्योंकि राष्ट्र के समस्त स्रोत युद्ध में लगा दिये जाते हैं। इसी तरह फासीवाद द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का विरोध भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसे संगठन राष्ट्रों के मध्य आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की व्यवस्था करते हैं और सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र भी ऐसे संगठनों की अवहेलना नहीं कर पाते। भूमण्डलीकरण और नागरिक समाज के कारण फासीवाद की इन धारणाओं को स्वतः चुनौती मिलती है। साम्राज्यवाद की अवधारणा भी राष्ट्रों के मध्य निरन्तर संघर्ष को प्रोत्साहन देती है।

6. फासीवाद राज्य अत्यधिक केन्द्रित तथा बल प्रयोग पर आधारित होने के कारण शासन के प्रति अनुशासित व निष्ठावान नागरिकों को तो जन्म दे सकता है परन्तु ऐसा वातावरण ज्ञान–कला, विज्ञान तथा साहित्य के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। यही कारण है कि फासीवादी इटली में सबसे अधिक कला एवं साहित्य प्रभावित हुआ।

7. फासीवादी अपने राष्ट्र तथा जाति की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। जातीय श्रेष्ठता की अवधारणा संकीर्ण धारण है। वास्तविकता यह है कि विश्व में सभी राष्ट्र समान हैं और कोई भी जाति किसी अन्य जाति से उच्च या निम्न नहीं है।

8. फासीवाद राज्य को अतिमहत्ता प्रदान करते हुए राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मात्र मानता है जो उचित नहीं है। राज्य महत्वपूर्ण है तो व्यक्ति भी महत्वपूर्ण है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा विकसित

होने पर फासीवाद राज्य की अवधारणा कटु आलोचना का पात्र बन गई है। राज्य हित व व्यक्तियों के हितों का उचित सामंजस्य ही किसी राज्य की सफलता का आधार हो सकता है।

9. फासीवाद द्वारा प्रतिपादित निगमात्मक राज्य की अवधारणा पूंजीपति व श्रमिकों के हितों के बीच तालमेल और सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास है परन्तु वास्तव में व्यवहारिक रूप में यह निकृष्ट और त्रुटिपूर्ण भी सिद्ध हुआ। इन निगमों द्वारा व्यवहार में फासीवादी व्यवस्था के प्रचार का एकमात्र कार्य सम्पादित किया गया और इनके द्वारा श्रमिाकों का शोषण और पूंजीपतियों का समर्थन देखने को मिलता है।

इस प्रकार फासीवाद अनेक आलोचनाओं से पूर्ण है। परन्तु हम अगर व्यापक दृष्टि से देखें तो संकटकाल में शीघ्र निर्णय, कठोर, अनुशासन और राष्ट्रीय एकता को महत्व प्रदान करने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

21.7 फासीवाद और साम्यवाद

फासीवाद एवं साम्यवादी अवधारणाएँ 19वीं शताब्दी में लोकतंत्र के विरूद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुयीं, दोनों में कुछ समानताएं हैं तो कुछ विशिष्ट असमानताएं भी हैं। सर्वप्रथम फासीवाद व साम्यवाद में निम्न समानताएं हैं–

1. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही विश्वयुद्ध की परिस्थितियों का परिणाम है। इटली एवं सोवियत संघ के नेताओं ने अपने–अपने देश में उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाकर अपनी सत्ता स्थापित की।

2. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही सर्वाधिकारवादी राज्य की अवधारणा में विश्वास करते हैं। प्रजातांत्रिक साधनों में उनका कोई विश्वास नहीं है। संसदीय प्रजातंत्र को वे असक्षम एवं अप्राकृतिक कहकर आलोचना करते हैं। दोनों ही शक्ति में विश्वास और जनता के स्वैच्छिक सहयोग को अस्वीकार करते हैं। दोनों ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वैध व शान्तिमय साधनों के प्रयोग के पक्ष में नहीं है।

3. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही एकाधिकारवादी अवधारणाएँ हैं। दोनों के ही अनुसार राज्य की सत्ता और अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। दोनों ही यह मानती हैं कि राज्य को व्यक्ति के समग्र जीवन पर नियंत्रण रखना चाहिए और दोनों ही व्यक्तिवाद विरोधी अवधारणा है।

4. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही एक दल के अधिनायकत्व में विश्वास करते हैं और दूसरे दलों के अस्तित्व एवं कार्यों को अनुमति नहीं देते हैं।

5. फासीवाद व साम्यवाद दोनों ही हीगल की राज्य की अवधारणा से प्रभावित हैं। दोनों ही विस्तारवादी अवधारणा है और दोनों राजनीति में नैतिकता की स्वीकार नहीं करते।

6. आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक प्रतियोगिता की उपादेयता को दोनों ही अवधारणाएँ स्वीकार नहीं करतीं। इन दोनों के अनुसार समाज के आर्थिक जीवन पर पूर्ण राजकीय नियंत्रण होना चाहिए जिससे आर्थिक व्यवस्था को सार्वजनिक हित साधन की दृष्टि से चलाया जा सके।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी फासीवाद व साम्यवाद में निम्नलिखित असमानताएँ हैं–

1. फासीवाद एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करना चाहता है जो व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर नियंत्रण कर समाज का विकास करना चाहता है। अतः फासीवाद राज्य के स्थायित्व में विश्वास करता है जबकि साम्यवाद वर्गविहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य के विलुप्त होने की बात करता है।

2. साम्यवादी निजी सम्पत्ति की समाप्ति के द्वारा वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जबकि फासीवादी पूंजीपति व श्रमिक दोनों वर्गों के अस्तित्व को स्वीकारते हैं और निगमात्मक राज्य में दोनों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

3. साम्यवाद धर्म विरोधी है और धर्म को अफीम की भाँति मानता है। फासीवाद धर्म को बनाये रखना चाहता है। यहाँ तक कि फासीवादियों ने इटली में चर्च से समझौता किया और यथासंभव चर्च से सहयोग प्राप्त किया।

4. साम्यवाद पूंजीवाद का कट्टर विरोधी है। उत्पादन और वितरण के सभी साधनों पर निजी स्वामित्व को समाप्त करना चाहता है। इसके विपरीत फासीवाद पूंजीवाद एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर आधारित अर्थव्यवस्था को अनुचित न बताकर उपयोगी मानता है, क्योंकि उसी के अन्तर्गत देश की आर्थिक व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि होती है।

5. साम्यवाद वर्ग–संघर्ष के अस्तित्व को स्वीकर कर वर्गविहीन समाज की कल्पना करता है जबकि फासीवाद वर्ग सहयोग और विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को बनाये रखने का समर्थन करता है।

6. फासीवाद मानवीय असमानता को स्वीकार करता है तथा नस्ल, जाति की श्रेष्ठता की बात करता है। फासीवाद स्त्री–पुरूष असमानता का प्रतिपादन करता है जबकि साम्यवाद समानता की बात करता है उसका नस्ल, जातीय श्रेष्ठता तथा स्त्री–पुरूष असमानता में कोई आस्था नहीं है।

7. साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास करता है और इसके प्रभाव क्षेत्र का फासीवाद की तुलना में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। यह विश्व के श्रमिकों को एक होने की बात करता है। फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार चाहे पूंजीपति हो और चाहे श्रमिक सभी को राष्ट्रहित हेतु अपना सर्वस्व त्यागने के लिए तत्पर रहना चाहिए। फासीवाद राष्ट्रवाद का समर्थक है और साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद का।

8. नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फासीवाद का नीतिशास्त्र एक विकृत नीतिशास्त्र था। साम्यवाद बुद्धि प्रधान विचारधारा है जबकि फासीवाद बुद्धि–विरोधी दर्शन है।

21.8 सारांश

बीसवीं शताब्दी में मुसोलिनी के नेतृत्व में जिस विचारधारा का उदय हुआ उसे फासीवाद कहा जाता है। फासीवाद एकता व शक्ति के प्रतीक इटालिन भाषा

के fascio शब्द से उत्पन्न हुआ है। इटली में फासीदल का लक्ष्य वर्ग संघर्ष पर आधारित समाजवादी समाज व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियंत्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता पर आधारित समाज का निर्माण करना था। फासीवाद का एक ही नारा था– एक दल, एक राष्ट्र एवं एक नेता। थोड़े परिवर्तन के साथ यही विचारधारा जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में प्रस्फुटित हुई जिसे नाजीवाद के नाम से जाना गया। फासीवाद व नाजीवाद पर कई विचारधाराओं–सामाजिक डार्विनवाद, अबौद्धिकवाद, परंपरावाद, आदर्शवाद और व्यवहारवाद का प्रभाव पड़ा, इन्हें फासीवाद के स्रोत के रूप में जाना जाता है। फासीवाद अविवेक में विश्वास करता है तथा लोकतंत्रीय धारणाओं–स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व अधिकार को महत्व नहीं देता और स्वतंत्रता को जनता के कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता है। फासीवाद मात्र एक दल की व्यवस्था में विश्वास करता है और सर्वाधिकारवादी राज्य की अवधारणा में निष्ठा रखता है। स्त्रियों को पुरूषों की तुलना में निम्न स्थान दिया जाता है और जातीय एवं नस्लीय श्रेष्ठता के साथ ही विशिष्ट वर्ग के शासन को प्रश्रय देता है। उग्र राष्ट्रवाद को अपनाने के कारण फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, संगठनों के विरूद्ध है और युद्ध और हिंसा को राज्य के जीवन में आवश्यक मानता है। साम्यवाद के विपरीत यह पूंजीवादी वर्ग को समाप्त नहीं करना चाहता वरन् पूंजीपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग में सहयोग एवं सामंजस्य स्थापित करना चाहता है। फासीवाद निगमात्मक राज्य की कल्पना द्वारा अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत, सामूहिक एवं श्रमिकों के हितों का सामंजस्य करना चाहता था। फासीवाद अपने लक्ष्य एवं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हिंसा एवं बल प्रयोग का सहारा लेता है और विरोधियों को पूर्णतया समाप्त करने का प्रयास करता है। नजरबन्दी एवं श्रम शिविरों द्वारा विरोधियों का ब्रेनवाश करने या समाप्ति का कार्य किया जाता है। इस प्रकार फासीवादी शासन में स्थायी राष्ट्रवाद को मान्यता दी जाती है, सेना की सर्वोच्चता, जनसंचार साधनों पर राजकीय नियंत्रण, कला व साहित्य की अवहेलना की जाती थी। निर्वाचन का कार्य मात्र पाखण्ड होता है और विशिष्ट वर्ग प्रभावी रहता है। फासीवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। फासीवाद इटली व जर्मनी में बहुत दिनों तक प्रभावी नहीं रह सका। फासीवाद वह विचारधारा है जिसे द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। फासीवाद कोई सुसंगत, क्रमबद्ध व स्पष्ट विचारधारा नहीं है। राज्य को साध्य व व्यक्ति को साधन मानना व लोकतंत्र का विरोध करना, शक्ति व हिंसा पर विशेष बल देना, स्वतंत्रता व समानता की अवहेलना करना फासीवाद की सबसे बड़ी कमजोरी थी। फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही लोकतंत्र के विरूद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए हैं तथा सर्वाधिकारवादी राज्य तथा हीगल की राज्य की अवधारणा से प्रभावित हैं दोनों ही एकदल में विश्वास करते हैं पर फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फासीवाद पूंजीपति वर्ग को समाप्त नहीं करना चाहते वरन् श्रमिक व पूंजीपति दोनों वर्गों में सहयोग चाहते हैं जबकि साम्यवाद वर्गविहीन समाज की कल्पना करते हैं। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फासीवाद असमानता तथा साम्यवाद समानता, फासीवाद अंश राष्ट्रवाद और साम्यवाद राज्य के विलुप्त होने की बात करता है। वर्तमान भूमण्डलीकरण के युग में जब सीमाएं संकुचित हो रही हैं नागरिक समाज प्रभावी हो रहे हैं वहाँ फासीवाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति संगठन को अस्वीकार करना, नस्लीय एवं जातीय श्रेष्ठता को प्रोत्साहित करना कहीं से भी स्वीकार्य नहीं है।

21.9 शब्दावली

सत्तावाद – वह सिद्धान्त जिसमें कोई प्रामाणिक या आधिकारिक सत्ता स्थापित कर दी जाती है तथा उसी के आदेशों या निर्देशों को

उपयुक्त मानकर उनका पालन किया जाता है। इनसे प्रभावित व्यक्तियों की व्यक्त या अव्यक्त सहमति प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

राज्यसत्तावाद – वह सिद्धान्त जिसके अनुसार प्रभुसत्ता राष्ट्र में निहित है, जनसाधारण में नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार सब व्यक्तियों और संघों का उद्देश्य राज्य की शक्ति, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य को बढ़ाना है।

व्यक्तिवाद – 19वीं शताब्दी की विचारधारा जिसके अनुसार व्यक्ति को अपना विकास करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए और राज्य को केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में आने वाली वाह्य एवं आन्तरिक बाधाओं को दूर करना चाहिए।

21.10 उपयोगी पुस्तकें

1. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
2. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. पंत, जैन, गुप्ता राजनीतिकशास्त्र के आधार, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, 2009।
4. सं0 ज्ञान सिंह संधु, राजनीति सिद्धान्त हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली 2004।
5. जे0सी0 जौहरी एवं सीमा जौहरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा0 लि0 2001।

21.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न** :

   (अ) फासीवाद का अर्थ व फासीवादी शासन की विशेषताएं संक्षेप में बताइए।

   (ब) फासीवाद के मूल सिद्धान्तों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

   (स) फासीवाद के विकास का वर्णन कीजिए।

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न**

   (अ) फासीवादी दर्शन के स्रोतों का वर्णन कीजिए।

   (ब) फासीवाद की कार्यविधि का वर्णन कीजिए।

   (स) फासीवाद और साम्यवाद की तुलना कीजिए।

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

(अ) फासीवाद किसका पक्षधर है–

(i) क्षेत्र–प्रतिनिधित्व

(ii) साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व

(iii) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

(iv) उक्त सभी

(ब) फासीवाद के अनुसार अधिकारों का स्रोत है–

(i) प्रकृति

(ii) ईश्वर

(iii) व्यक्ति

(iv) राज्य

(स) मुसोलिनी द्वारा गठित दल का नाम था–

(i) नाजी दल

(ii) बोल्शेविक दल

(iii) फासीदल

(iv) अनुदारवादी दल

(द) निम्न में से कौन सा कथन फासीवादी विचारधारा के अनुरूप है–

(i) जनता के लिए धर्म अफीम के समान है।

(ii) राज्य को हमेशा विस्तार के लिए प्रयास करना चाहिए।

(iii) उद्योगपतियों को अपनी उत्पादन नीति स्वयं निर्धारित करनी चाहिए।

(iv) फासीवाद राज्य का अन्तर करना चाहता है।

(य) फासीवाद स्वीकार करता है–

(i) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका को

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को

(iii) स्थायी शान्ति को

(iv) हिंसा अपरिहार्य साधन के रूप में

(र) फासीवाद स्वीकार करता है–

(i) लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त को

(ii) सम्प्रभुता के बहुलवादी सिद्धान्त को

(iii) राज्य की सम्प्रभुता को

(iv) उपर्युक्त में से किसी को नहीं

21.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न

(अ) देखिए इकाई का 21.2 एवं 21.5.2 अंश

(ब) देखिए इकाई का 21.5 एवं 21.8 अंश

(स) देखिए इकाई का 21.3 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न

(अ) देखिए इकाई का 21.4 अंश

(ब) देखिए इकाई का 21.5.1 अंश

(स) देखिए इकाई का 21.9 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(अ) (iii)

(ब) (iv)

(स) (iii)

(द) (ii)

(य) (iv)

(र) (iii)

इकाई 22

साम्राज्यवाद

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा

22.3 साम्राज्यवाद का विकास

22.4 साम्राज्यवाद के कारण

22.5 साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

22.5.1 लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

22.5.2 मार्गेन्थाऊ के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

22.6 साम्राज्यवाद के विविध रूप

22.7 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नव–उपनिवेशवाद

22.8 सारांश

22.9 शब्दावली

22.10 उपयोगी पुस्तकें

22.11 सम्बन्धित प्रश्न

22.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

एक देश की विस्तारवादी नीति साम्राज्यवादी कहलाती है और इस इकाई का अध्ययन करके आप :

- साम्राज्यवाद का अर्थ समझ सकेंगे।
- साम्राज्यवाद के विकास के विविध चरणों को समझ सकेंगे।
- साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में विचारकों के विचारों को जान सकेंगे।
- साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं नव उपनिवेशवाद को समझ सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

साम्राज्यवाद एक सरकार द्वारा दूसरों पर शासन अथवा प्रभाव का विस्तार है। यह नियंत्रण अथवा प्रभाव औपचारिक, अथवा अनौपचारिक प्रत्यक्ष अथवा

अप्रत्यक्ष, राजनीतिक अथवा आर्थिक किसी भी रूप में हो सकता है। इसके द्वारा नये उपनिवेशों को प्राप्त करना व पुरानों को बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। यह पूंजीवादी संबंधों के आर्थिक विकास का एक चरण है। साम्राज्यवाद आधुनिक समय की विचारधारा नहीं है वरन् व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ के साथ ही यह आरम्भ हो गई थी। वरन् व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ के साथ ही यह आरम्भ हो गई थी। प्राचीनकाल में सिकन्दर महान की विश्व विजय की आकांक्षा, रोमन साम्राज्य, भारत में राजसूय यज्ञ, विशाल साम्राज्यों की स्थापना जिसमें राजनीतिक नियंत्रण का विस्तार प्रमुख उद्‌देश्य होता था साम्राज्यवाद के लक्षण हैं। परन्तु 15वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के बाद उत्पादित माल के खपत और कच्चे माल की प्राप्ति हेतु शक्तिशाली देशों यथा ब्रिटेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, जर्मनी, इटली, हालैण्ड, स्पेन आदि ने नये बाजार क्षेत्रों की तलाश में व्यापारिक कम्पनियों के माध्यम से आर्थिक साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया। साम्राज्यवाद के लक्ष्यों की समय–समय पर भिन्नता के उपरान्त भी यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि साम्राज्यवाद साम्राज्य–निर्माण की व्यवस्था का प्रतीक है। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें शक्तिशाली देश निर्बल देशों के भाग्य पर अधिकतम सीमा तक नियंत्रण रखना चाहते हैं। कभी पिछड़ों का उत्थान करने, असभ्यों को सभ्य बनाने, गोरे लोगों के दायित्व आदि तर्कों के माध्यम से शक्तिशाली देश इसे सही सिद्ध करना चाहते हैं जबकि निर्बल देश इसे अभिशाप मानते हैं। प्रस्तुत इकाई में हम साम्राज्यवाद का अर्थ, परिभाषा, साम्राज्यवाद के विकास के विविध चरण और साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराओं को समझने का प्रयास करेंगे

22.2 साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्यतः साम्राज्यवाद एक देश द्वारा अपनी सीमाओं से पार या दूर अपनी शक्ति के विस्तार की नीति को कहते हैं। साम्राज्यवाद को अलग–अलग विद्वानों ने अलग–अलग रूपों में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

पारकर मून के शब्दों में साम्राज्यवाद इच्छुक अथवा अनिच्छकु लोगों पर आर्थिक अथवा राजनीतिक नियंत्रण है। साम्राज्यवाद में एक देश दूसरे पर राजनीतिक प्रभुसत्ता स्थापित करता है या आर्थिक शोषण करने के उद्‌देश्य से नियंत्रण स्थापित करता है। साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप एक सशक्त व बड़ा राज्य दूसरे अनेकों छोटे–छोटे राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है।

बॉन के अनुसार 'साम्राज्यवाद वह नीति है जिसका उद्‌देश्य एक साम्राज्य अर्थात एक ऐसे राज्य का निर्माण करना, उसका संगठन करना तथा उसे बनाए रखना होता है जो आकार में विशाल हो और जिसमें न्यूनाधिक रूप से अनेक इकाईयाँ सम्मिलित हों तथा जो एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन हो।

बर्न्स के अनुसार 'विविध देशों व जातियों पर एक प्रकार के कानून व शासन की व्यवस्था साम्राज्यवाद है : यह एक राष्ट्र को साम्राज्य बनाने का एक तरीका है, एक राष्ट्र का प्रसार, उसका फैलाव। कई बार उपनिवेशवाद जिसका अधिकांशतः आर्थिक स्वरूप होता है तथा अधिकांशतः राजनीतिक स्वरूप वाले साम्राज्यवाद में अन्तर किया जाता है। मार्क्सवादी विचारक साम्राज्यवाद को आर्थिक रूप से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। लेनिन ने अपनी पुस्तक Imperialism : The Highest Stage of Capitalism में साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का उच्चतम् चरण बताया है।

कार्ल काटस्की ने चरम साम्राज्यवाद अथवा अति साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की अंतःशक्ति अर्थात् सम्भाव्य शक्ति कहा था। हाब्सन ने अपनी पुस्तक Imperialism में साम्राज्यवाद को उपनिवेशी क्षेत्रों के लिए प्रतिस्पर्द्धा तथा अन्य देशों में बाजार प्राप्त करने का संघर्ष कहा। हॉब्सन के अनुसार साम्राज्यवाद का अर्थ है– (1) नये बाजारों की तलाश (2) कच्चे माल के लिए स्रोतों की प्राप्ति (3) अतिरिक्त पूंजी का निवेश। एस.एल. फ्यूर (S.L. Feur) ने साम्राज्यवाद के दो प्रमुख उप प्रकार बताये हैं–पहला प्रतिगामी साम्राज्यवाद जिसमें पूर्ण विजय, शुद्ध रूप से बल प्रयोग, असंदिग्ध शोषण, अनइच्छित या विरोधी व्यक्तियों को ऐसे क्षेत्रों में बसाना सम्मिलित है। फ्यूर द्वारा चिन्हित साम्राज्यवाद का दूसरा प्रकार प्रगतिशील साम्राज्यवाद है जो मानवता के विश्वव्यापी विचार पर आधारित है जो पिछड़े समाजों के जीवन स्तर को सुधारने के उद्देश्य से सभ्यता का विस्तार और विजित क्षेत्रों में संस्कृति को प्रोत्साहित करते हैं। वे उपनिवेशी व्यक्तियों को साम्राज्यवादी समाज में एकीकृत करने की अनुमति देते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश साम्राज्य जो अपने प्रजाजनों को अनेक सुविधाएँ प्रदान करने का दावा करते हैं।

हिलफ रडिंग ने Finance Capital :"A Study of the Latest Phase in Capitalist Development में पूंजी के संचयन में पूंजीवादी राज्यों के बढ़ते दमन व अत्याचार को देखा जिसके फलस्वरूप औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दिता बढ़ती है तथा मानव जाति युद्ध की ओर अग्रसर होती है। शुम्पीटर का मानना है कि साम्राज्यवाद क्षेत्रीय विस्तार हेतु आक्रामक प्रवृत्तियों को जन्म देता है। वैलीस्टीन ने The Modern World-System में कहा कि साम्राज्यवाद क्षेत्रीय, विजय का नाम नहीं है अपितु एक ऐसी विश्वव्यापी व्यवस्था है जिसमें औद्योगिक व विकसित देश, अपने वित्तीय पूंजी के कारण गरीब देशों पर व्यापारिक आधिपत्य स्थापित करते हैं। संभवतः उसका संकेत स्पष्टतः भूमण्डलीकरण की ओर था। इनसाइक्लोपीड़िया ऑफ साइन्सेज में साम्राज्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है– 'साम्राज्यवाद एक नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य अथवा एक ऐसे विशाल राज्य का निर्माण, संगठन और अनुरक्षण करना होता है जो न्यूनाधिक भिन्न प्रकार की राष्ट्रीय इकाइयों के संयोग से बना हो और एक केन्द्रीय इच्छा के अधीन हो।' विद्वानों द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवाद की परिभाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में साम्राज्यवाद की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैः–

1. साम्राज्यवाद में राज्य अपनी सीमाओं में निरन्तर वृद्धि करने में विश्वास रखता है।
2. साम्राज्यवाद में राज्य अन्य देशों को अपने अधीन करके उनका शोषण करता है।
3. आधुनिक साम्राज्यवाद का उद्देश्य मुख्यतः आर्थिक शोषण होता है परन्तु कभी–कभी सैनिक व राजनीतिक शोषण भी हो सकता है।
4. साम्राज्यवाद में प्रभुत्व का एक ही केन्द्र होता है और विविध राष्ट्रीय इकाईयों पर एक ही राष्ट्र का प्रभुत्व होता है।
5. साम्राज्यवाद का सम्बन्ध राष्ट्र की विदेश नीति से है।
6. मारगेन्थाऊ के अनुसार जिन राज्यों के पास शक्ति का बाहुल्य है वे निरन्तर अपनी शक्ति वृद्धि करने का प्रयास करेंगे। ऐसे राज्यों की नीति परिवर्तनकारी होती है और जब ऐसे राज्यों की शक्ति विस्तार की लालसा अपने चरम पर पहुँच दूसरों का शोषण करने लगती है तब वह राज्य साम्राज्यवादी नीति अपनाने लगता है। यथास्थितिवादी राज्य यथाशक्ति

विद्यमान शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु परिवर्तनकारी विद्यमान शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना चाहते हैं परन्तु परिवर्तनकारी विद्यमान शक्ति सन्तुलन को उलटकर और अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

7. साम्राज्यवादी राज्यों के पास अपने अधीनस्थ राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत उन्नत तकनीक, अस्त्र–शस्त्र, रणनीति कौशल, अधिक पूंजी और उत्पादन के उन्नत साधन होते हैं।

22.3 साम्राज्यवाद का विकास

साम्राज्यवाद कोई अर्वाचीन धारणा नहीं है। अति प्राचीनकाल में भी साम्राज्यवाद अस्तित्व में था। सिकन्दर महान की विश्वविजय की महत्वाकांक्षा साम्राज्यवाद का ही रूप था। यूनान के एक छोटे से नगर–राज्य (मकदूनिया) के शासक सिकन्दर ने मध्यपूर्व के क्षेत्र को अपने राज्य में सम्मिलित करके यूनानी राज्य की स्थापना की। सिकन्दर की मृत्यु के बाद यूनानी साम्राज्य बिखर गया। उसके बाद रोमन साम्राज्य स्थापित हुआ और पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह साम्राज्य विखण्डित हो गया। प्राचीन काल में मिस्र, सुमेर, ईरान आदि भी विशाल साम्राज्य के उदाहरण हैं। भारत में प्राचीन युग में मौर्य, कुषाण, गुप्त तथा मध्ययुग में तुर्क और मुगल साम्राज्य ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। इन साम्राज्यों के सम्राटों का मुख्य उद्देश्य विजित जातियों से कर वसूल करना, उनकी भूमि पर अधिकार कर लेना, अपनी राजनीतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा की वृद्धि करना और अपनी सभ्यता व संस्कृति का प्रसार करना होता था। साम्राज्यवाद के विकास का यह युग प्राचीन माना जाता है।

साम्राज्यवाद का आधुनिक युग 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ माना जाता है। औद्योगिक क्रांति की अपार सफलता के कारण आधुनिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। उत्पादन में वृद्धि होने से स्थानीय बाजार अपर्याप्त होने लगे और मशीन निर्मित वस्तुएं सस्ती भी होती थीं उनकी खपत के लिए नये बाजारों की उपलब्धता अपरिहार्य हो गयी। अतः यूरोप के कुछ उन्नत देशों जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, स्पेन, जर्मनी तथा इटली के नये पूंजीपति वर्ग ने अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के क्षेत्रों में नये बाजार खोजने की कोशिश की। उनके द्वारा गठित व्यापारिक कंपनियों ने उक्त क्षेत्रों में अपने बाजार क्षेत्र बनाने का प्रयास किया, जिसे तृतीय विश्व के नाम से जाना जाता है। उपनिवेश बनाना और व्यापार के द्वारा लाभ कमाना इस साम्राज्य के मुख्य उद्देश्य थे। तृतीय विश्व के देशों पर एकाधिकार की होड़ में विभिन्न देशों के मध्य टकराव व युद्ध हुए। भारत में ब्रिटिश व फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनियाँ भी प्रादेशिक विजय, विलय तथा संरक्षण संबंधी नीति के कारण संघर्षरत रही। यूरोपीय जातियों ने पूर्वी देशों में पहुँचने के लिए सामुद्रिक मार्गो को ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया और कोलम्बस ने अमरीका व वास्कोडिगामा ने भारत की खोज की। इस दिशा में स्पेन और पुर्तगाल की पहल के बाद इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड और यूरोपीय देश आगे आये। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों में अनेक जातियाँ निवास करती थीं और उनमें से कुछ बहुत प्रसिद्ध थीं परन्तु यूरोपीय जातियों विशेषतया स्पेन और इंग्लैण्ड ने इस जातियों को अत्यन्त कुटिल तरीके से, छल–कपट और हिंसा के बल पर संहार किया। 1815 की वाटरलू लड़ाई भी साम्राज्यवादियों का शक्ति संघर्ष का फल था जो वियना समझौते के रूप में सामने आया। संयुक्त राज्य अमरीका का मुनरो सिद्धान्त अमरीका के साम्राज्यवादी उद्देश्यों को द्योतक था। 19वीं शताब्दी

के मध्य तक लगभग पूरा अफ्रीकी, एशियाई और लैटिन–अमरीकी क्षेत्र विकसित देशों की दासता व शोषण के अधीन हो गया और साम्राज्यवाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। परन्तु इस प्रतिस्पर्द्धा में जर्मनी व इटली जैसे कुछ देश पिछड़ गये और उनके स्वार्थो की लड़ाई इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि प्राचीन विशाल साम्राज्य वाले राष्ट्रों के बीच कटु संघर्ष में परिवर्तित हो गयी जिसका परिणाम 1914–1918 का प्रथम विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया। इस युद्ध में जर्मनी व उसके सहयोगियों की पराजय हुई किन्तु पराजय को विजय में परिवर्तित करने का जर्मनी की प्रयास साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा बनाये रखने में सफल रहा और अन्ततः 1939–45 का द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की तथा रूस के साम्राज्य समाप्त हो गये। द्वितीय विश्वयुद्ध ने साम्राज्यों का तेजी से विघटन किया। ब्रिटेन को भारत, लंका, वर्मा, मलाया आदि छोड़ना पड़ा, इण्डोनेशिया ने हालैण्ड को और हिन्दचीन ने फ्रांस को बाहर कर राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना की। अफ्रीका महाद्वीप में भी साम्राज्यवाद का तेजी से पराभव हुआ और अनेकों देश यूरोपीय दासता से मुक्त हो गये। एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमरीकी देशों की स्वतंत्रता ने एक नये समूह को जन्म दिया जो तृतीय विश्व के रूप में जाने गये।

तृतीय विश्व के देशों एवं पिछड़े देशों में साम्राज्यवाद का नया स्वरूप विकसित हुआ जिसे नव उपनिवेशवाद कहा गया। नव उपनिवेशवाद के द्वारा इन देशों का आर्थिक शोषण होता रहा। हाँ इन देशों पर राजनीतिक प्रभुत्व का अन्त हो गया परन्तु आर्थिक एवं सैन्य दृष्टि से निर्बल होने के कारण पूंजीवादी और शक्तिशाली देशों का उन पर अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण बना ही रहा । नये स्वतंत्र देशों की निर्बलता का अनुचित लाभ उठाते हुए वे उन पर कुटिलता व चालाकी से असमान संधियाँ थोपते हैं, उनके क्षेत्रों में सैनिक अड्डे स्थापित करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से उनके राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप करते हैं और कभी–कभी तो उन देशों में अपनी समर्थक सरकार स्थापना में भी सहयोग देते हैं। नवीन साम्राज्यवाद का उद्‌देश्य भी आर्थिक लूट करना ही है। बहुराष्ट्रीय निगम इस कार्य में सहयोग प्रदान करते हैं। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे वर्तमान वित्तीय संस्थाओं को भी कुछ सीमा तक ऐसे अभिकरणों के रूप में देखा जाता है जो तृतीय विश्व के देशों पर औपनिवेशिक प्रभुत्व को सशक्त बनाती है। इच्छुक राष्ट्रों को ऋण प्रदान कर ये उन्हें बाध्यकारी नीतियों का अनुसरण करने को विवश करते हैं और अन्ततः ऐसे राष्ट्र ऋण चक्र में फंस जाते हैं। ब्राजील, पेरू, अर्जेटीना, मैक्सिको और फिलीपीन्स इनके उदाहरण माने जाते हैं।

22.4 साम्राज्यवाद के कारण

साम्राज्यवाद राज्य की नीति, व्यवहार या शक्ति और उपनिवेश का विस्तार है। विशेष रूप से प्रत्यक्ष क्षेत्रीय अधिग्रहण अथवा दूसरे क्षेत्रों पर राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण स्थापित करना है। चूंकि यह सदैव शक्ति का प्रयोग करता है चाहे सैन्य शक्ति अथवा कुछ धूर्त रूप, साम्राज्यवाद को अक्सर नैतिक दृष्टि से निंदनीय समझा जाता है और इसका प्रयोग विरोधी की विदेश नीति की आलोचना एवं निंदा करने हेतु प्रयोग किया जाता है।

प्राचीनकाल में साम्राज्यवाद मिस्र, बेबीलोन, असीरिया, ईरान, यूनान के शक्तिशाली साम्राज्यों के इतिहास में देखा जा सकता है। आतातायी असीरिया साम्राज्य को पर्शियन साम्राज्य द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। असीरियन साम्राज्य

की तुलना में पर्शियन साम्राज्य द्वारा प्रजा के साथ उदारवादी व्यवहार के कारण इसका कार्यकाल अधिक रहा। अन्ततः इसने ग्रीस साम्राज्य को मार्ग प्रदान किया। सिकन्दर महान की अधीनता में जब ग्रीक साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा तब पूर्वमध्य तथा पश्चिमी एशिया के संघ की प्राप्ति हुई थी परन्तु विश्व के सभी नागरिक समानता एवं सौहार्द्ध से विश्वराज्य में रह सके, सिकन्दर का यह विचार सपना ही बना रहा। यह कुछ अंश में सच हुआ जब रोमन लोगों में ब्रिटेन से लेकर मिस्र तक अपना साम्राज्य बनाया।

आधुनिक काल में तीन कालखण्डों ने विशाल साम्राज्यों को देखा। प्रथमतः उपनिवेशकाल 15वीं और 18वीं सदी के मध्य इंग्लैण्ड, फ्रांस, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल और स्पेन ने अमेरिका, भारत और ईस्टइण्डीज में अपना साम्राज्य फैलाया। उसके पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक साम्राज्यवाद निर्माण के सम्बन्ध में शान्ति रही क्योंकि साम्राज्यवाद के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। उसके पश्चात् 19वीं शताब्दी के मध्य और विश्वयुद्ध प्रथम के मध्य का दशक तीव्र साम्राज्यवादी नीतियों का साक्षी रहा है। रूस, इटली, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान साम्राज्यवादी राज्यों की श्रेणी में नवागन्तुक राज्य बने और अप्रत्यक्ष साधन विशेष रूप से आर्थिक नियंत्रण साम्राज्यवाद का प्राथमिक स्वरूप बना। प्रथम विश्वयुद्ध के एक दशक बाद बेहतर विश्व की अपेक्षा राष्ट्र संघ से प्रभावित होकर बढ़ी और साम्राज्यवाद की समस्या को स्थगित कर दिया गया। जापान ने अपने साम्राज्य निर्माण का कार्य 1931 में चीन पर आक्रमण करके किया और सर्वाधिकारवादी राज्य के नेतृत्व में जापान, फासीवादी इटली, नाजी जर्मनी और सोवियत संघ ने 1930 और 1940 के दशक में साम्राज्यवाद का नया काल प्रारम्भ किया।

अपने आधुनिक स्वरूप में साम्राज्यवाद के कारण और मूल्यों को चार प्रमुख समूहों में विभाजित किया जा सकता है–

प्रथम समूह आर्थिक तर्क रखता है और साम्राज्यवाद लाभकारी है या नहीं के प्रश्न के इर्द–गिर्द घूमता है। इस समूह के समर्थक यह तर्क देते हैं कि मानव एवं भौतिक संसाधनों के विकास के लिए साम्राज्यवाद हितकारी है। साम्राज्यवाद वस्तुओं के लिए आउटलेट, पूंजी निवेश और अतिरिक्त जनसंख्या को निवास हेतु एक साम्राज्य प्रदान करता है। इनके विरोध में जिसमें एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और जे.ए. हॉब्सन सम्मिलित हैं अक्सर यह स्वीकार करते हैं कि साम्राज्यवाद व्यक्तियों के एक छोटे और समर्थित समूह के लिए हितकारी है परन्तु पूर्ण राष्ट्र के लिए कभी नहीं। मार्क्सवादी सिद्धान्तवादी साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का अंतिम करण कहते हैं जब राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था एकाधिकारवादी बन जाती है और अन्य पूंजीवादी राज्यों से प्रतिस्पर्धा में अपने अति उत्पादन, अतिरिक्त पूंजी के लिए बाजार जीतने के लिए बाध्य होते हैं। यह विचार लेनिन, और बुखारिन के हैं जो पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को समान मानते हैं। इस विचार समूह में कमी यह है कि ऐतिहासिक प्रमाण इसका समर्थन नहीं करते हैं और यह पूंजीवाद से पूर्व की और साम्यवादी साम्राज्यवाद की व्याख्या करने में असफल है।

दूसरा तर्क समूह साम्राज्यवाद को मानव प्रकृति और मानव समूहों जैसे राज्य से जोड़ते हैं। विविध विचारकों जैसे मैकियावली, सर फ्रान्सिस बेकन, एडोल्फ हिटलर, मुसोलिनी ने अलग–अलग कारणों का वर्णन किया परन्तु फिर भी सभी का निष्कर्ष एक ही था। उनके लिए साम्राज्यवाद अस्तित्व के लिए संघर्ष का स्वाभाविक अंग है। जिनके पास श्रेष्ठतर गुण हैं वे दूसरों पर शासन करने के लिए ही बने हैं।

तीसरा तर्क समूह सुरक्षा एवं युद्ध कौशल या व्यूहरचना से सम्बन्धित है। राष्ट्र इस तर्क और विचार का सहारा लेकर सुरक्षा के लिए आधार क्षेत्र, युद्ध कौशल सम्बन्धी वस्तुएँ, बफर राज्य, प्राकृतिक सीमाओं और संचार लाईनों पर नियंत्रण करने का प्रयास करते हैं या अन्य राज्यों को इन्हें प्राप्त करने से रोकने का प्रयास करते हैं। वे लोग जो साम्राज्यवाद के महत्व को इन उद्देश्यों के आधार पर अस्वीकार करते हैं वे ध्यानाकर्षित करते हैं कि इससे सुरक्षा प्राप्त नहीं होती है। राज्य का अपनी सीमाओं से बाहर लोगों पर नियंत्रण का विस्तार मनमुटाव की संभावना उत्पन्न करता है। इसलिए असुरक्षा, प्रतिस्पर्द्धी राज्यों के सुरक्षा परिक्षेत्र और प्रभाव क्षेत्रों का शीघ्र या विलम्ब से परिवर्तित होने के लिए बाध्य है। सुरक्षा उद्देश्यों से सम्बन्धित तर्क है कि राज्यों के अपने हित के लिए शक्ति और सम्मान के प्रयास में राज्य साम्राज्यवादी हो जाते हैं

तर्कों का चौथा समूह नैतिकता पर आधारित है, कभी–कभी आततायी शासन से जनता को मुक्ति दिलाने की दृष्टि से साम्राज्यवाद को क्षमादान दिया जाता है या जीवन के श्रेष्ठतर साधनों को उपलब्ध कराने की दृष्टि से साम्राज्यवाद का समर्थन किया जाता है।

साम्राज्यवाद विभिन्न मिश्रित कारणों का परिणाम है जिसमें आर्थिक दबाव, मानव की आक्रामकता और लोभ, सुरक्षा की खोज, शक्ति व प्रतिष्ठा की भूख, राष्ट्रवादी भावनाएँ, मानवतावाद और अन्य अनेक कारक अलग–अलग मात्रा में प्रभावी होते हैं। मिश्रित प्रेरकों के कारण साम्राज्यवाद को समाप्त करना कठित है परन्तु राज्यों को स्वयं इसका पीड़ित बताना सरल हो जाता है। तृतीय विश्व के कुछ राज्यों ने पूर्व उपनिवेशवादी शक्तियों और अन्य राज्यों को नव उपनिवेशवाद का दोषी बताया है। उनका भय है कि आर्थिक एवं तकनीकी विकास हेतु सहायता अनुदान और कौशल युक्त कर्मचारियों की आपूर्ति साम्राज्यवाद का बहाना हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अन्तर्गत शान्तिमय साधनों द्वारा राष्ट्रों की आवश्यकता को वैधता प्रदान और अवैधानिक को रोकने का प्रयास किया गया। इन उद्देश्यों के लिए सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था, आश्रित क्षेत्रों हेतु ट्रस्टीशिप और बाध्यकारी व्यवस्था, राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक संबंधों को बढ़ावा देना, विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देना, स्वास्थ्य क्षेत्र में विकास करना और सभी जगह लोक कल्याण करना जैसे कार्य सम्मिलित हैं।

22.5 साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

साम्राज्यवाद के विषय में विचारकों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किये हैं जिसमें मार्क्सवादी विचारक लेनिन एवं यथार्थवादी विचारक मार्गेन्थाऊ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

22.5.1 लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

1916 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ Imperialism : The Highest Stage of Capitalism में लेनिन ने साम्राज्यवाद सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ में प्रतिपादित विचारों द्वारा वह दो बातें सिद्ध करना चाहता था–(1) 1914 का युद्ध दोनों ओर से साम्राज्यवादी था, (2) साम्राज्यवाद, सामान्य पूंजीवाद के आधारभूत तत्वों का निरन्तर क्रम है। साम्यवादी लेनिन की साम्राज्यवाद की व्याख्या

मार्क्सवादी दर्शन को एक मौलिक देन है। लेनिन ने कहा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था है और लेनिन ने इसे साम्राज्यवादी पूंजीवाद के नाम से सम्बोधित किया है। पूंजीवाद का साम्राज्यवाद से आन्तरिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लेनिन ने कहा कि 'साम्राज्यवाद विकास की स्थिति का वह पूंजीवाद है जिस स्थिति में एकाधिकारवादी आधिपत्य एवं वित्तीय पूंजी का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों के द्वारा विश्व का विभाजन आरम्भ हो जाता है और जिसमे संसार के सारे भू–प्रदेश का बड़े से बड़े पूंजीवादी देशों द्वारा बँटवारा सम्पूर्ण कर लिया जाता है। लेनिन ने साम्राज्यवद के निम्न पाँच लक्षणों का उल्लेख किया है–

1. साम्राज्यवाद में केन्द्रीकरण और पूंजी का विस्तार चरम सीमा पर पहुँच जाता है और एकाधिकार का विकास होता है। लेनिन के इस विचार पर मार्क्स के पूंजी संचयन सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव है परन्तु लेनिन ने मार्क्स के इस सिद्धान्त का विस्तार कर तत्कालीन परिस्थितियों पर लागू किया। लेनिन का मानना था कि पूंजीवाद अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है जिसके लिए उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है तथा बाजारों पर एकाधिकार नियंत्रण भी। जो पूंजीपति व्यापार में जितनी पूंजी लगाता है उसे उसी अनुपात में लाभ होता है फलस्वरूप छोटे पूंजीपति बड़े पूंजीपतियों का सामना नहीं कर पाते और बड़े पूंजीपतियों का ही एकाधिकार हो जाता है। ऐसे पूंजीपति अपने देश के बाजार से ही संतुष्ट नहीं होते उनकी नजर दूसरे देशों के बाजारों पर भी टिकी रहती है। दूसरे देशों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए वे औद्योगिक समितियों का भी निर्माण करते हैं। विकसित राष्ट्र औद्योगिक क्षेत्र में आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति अपनाते हैं। देश में आयातों को प्रतिबन्धित कर निर्यात को बढ़ावा देते हैं। वे अविकसित देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं जिससे साम्राज्यवाद का जन्म होता है। अधिकृत प्रदेशों से कच्चे माल की प्राप्ति कर अपने देश की बनी वस्तुओं की वहाँ खपत कराकर वे दोहरा लाभ कमाते हैं।

2. साम्राज्यवाद में असमान विकास का नियम और भी तीव्र हो जाता है। पूंजीवाद में उत्पादित वस्तुओं का निर्यात हो जाता है। पूंजीवाद में उत्पादित वस्तुओं का निर्यात होता है पूंजी का निर्यात नहीं होता। व्यापार के विस्तार और अधिक लाभ प्राप्ति की दृष्टि से औद्योगिक ट्रस्टों और कारटेल्स (trusts and cartels) का भी निर्माण होता है। इससे बैंक की पूंजी भी औद्योगिक पूंजी के साथ मिला दी जाती है इससे वित्तीय पूंजीवाद (Financial capitalism) और वित्तीय धनतंत्र (Financial oligarchy) का उदय होता है जिससे कुछ देश दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं क्योंकि उनके अधीन उपनिवेश और नये–नये बाजार होते हैं। इसके कारण पूंजीवादी समूह में स्थायित्व नहीं रहता और विश्व शान्ति खतरे में पड़ जाती है।

3. साम्राज्यवाद अन्तर्विरोधों से युक्त होता है इसलिए यह पूंजीवाद का अन्त और भी शीघ्रता से करेगा, विश्व बाजारों के लिए प्रतिस्पर्द्धा विश्व के देशों को शोषक और शोषितों के बीच बाँट देता है। उत्पादकीय शक्तियों में परिवर्तन से उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आते हैं। अविकसित देशों के परिश्रमी मजदूरों का नया सर्वहारा वर्ग उदित होता है जिसके कारण क्रान्ति का संघर्ष एक देश तक सीमित न रहकर विश्व स्तर तक फैल

जाता है और विश्व शोषक राष्ट्र और शोषक और शोषित राष्ट्रों के बीच विभाजित हो जाता है।

4. पूंजी के दृष्टिकोण से सम्पन्न राष्ट्र अपने उत्पादन की खपत कराने और कच्चे माल की प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं एक ही उद्देश्य के लिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच इसके लिए संघर्ष शुरू हो जाता है जिसके कारण साम्राज्यवादी युद्ध होते हैं। लेनिन ने प्रथम विश्व युद्ध का मूल्यांकन इसी दृष्टिकोण से किया था और उसके अनुयायी द्वितीय विश्वयुद्ध को भी साम्राज्यवाद का अनिवार्य परिणाम मानते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर लेनिन साम्राज्यवाद के अन्त होने की घोषणा करता है। लेनिन इस साम्राज्यवाद से मुक्ति का एकमात्र उपाय व्यक्तिगत पूंजी विनाश को मानता है और उसके अनुसार समाजवाद की स्थापना पूंजीवाद के अन्त के साथ न होकर साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद होगी। आलोचकों ने लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का ऐतिहासिक घटनाक्रम के अनुकूल न होने के कारण आलोचना की है। इस सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैण्ड में सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति पहले होनी चाहिए थी परन्तु औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश, रूस और चीन में क्रान्ति पहले हुई। दूसरा लेनिन ने कहा कि जब ट्रस्ट, कार्टेल, सिण्डीकेटों आदि का गठन होता है तो साम्राज्यवाद का विस्तार होता है लेकिन इंग्लैण्ड जैसा देश 19वीं शताब्दी में ही साम्राज्यवादी हो गया था और वहाँ ट्रस्ट, कार्टेल या सिण्डीकेट जैसे संगठनों का निर्माण 20वीं शताब्दी में हुआ।

22.5.2 मार्गेन्थाऊ के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ ने अपनी पुस्तक Politics Among Nations में राज्यों के बीच शक्ति संघर्ष का वर्णन करते हुए साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया है। मार्गेन्थाऊ का मानना है कि जिन राज्यों के पास शक्ति बाहुल्य है वे निरन्तर प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे राज्यों की नीति परिवर्तनकारी होगी और परिवर्तनकारी राज्य की शक्ति विस्तार की लालसा अपने चरमोत्मकर्ष पर पहुँचकर दूसरे राज्यों का शोषण करने लगती है, तब वह साम्राज्यवादी नीति अपनाने लगता है। मार्गेन्थाऊ ने साम्राज्यवाद के तीन प्रलोभनों की चर्चा की है—

1. युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, भले ही युद्ध प्रारम्भ होते समय उनकी स्थिति कुछ भी रही हो। कई बार रक्षात्मक युद्ध भी साम्राज्यवादी युद्ध में परिवर्तित हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वार्साय की सन्धि व उपसन्धियों का रूप साम्राज्यवादी हो गया क्योंकि इसने युद्ध से पूर्व की यथास्थिति में परिवर्तन किया।

2. युद्ध में पराजय भी साम्राज्य के निर्माण में सहायक होती है क्योंकि पराजित राष्ट्र स्वयं की निम्न स्थिति को दूर करने के लिए पुनः शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते है। 1933 से द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति ऐसा ही उदाहरण है।

3. कमजोर राज्य शक्तिशाली राज्यों को साम्राज्य निर्माण का आह्वाहन करते है। ऐसे क्षेत्र में जहाँ कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र नहीं होता वे उपनिवेश निर्माण के आकर्षक स्थल होते हैं।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार साम्राज्यवाद तीन विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न होता है इसी कारण साम्राज्यवाद तीन विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। यह तीन लक्ष्य निम्न हो सकते है :–

1. विश्व साम्राज्यवाद अर्थात जब एक शक्तिशाली राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य कर अपने साम्राज्य विस्तार को असीमित करना चाहता है। सिकन्दर महान, रोमन साम्राज्य, 7वीं–8वीं शताब्दी में अरब, नैपोलियन, हिटलर ऐसे ही उदाहरण हैं।

2. महाद्वीपीय साम्राज्य अर्थात एक निश्चित सीमा प्रदेश में अपने राष्ट्र की शक्ति को सुदृढ़ करना। यूरोप के राष्ट्रों ने समय–समय पर इसी नीति को अपनाया। लुई चौंदहवाँ, नैपालियन तृतीय तथा विलियम द्वितीय यूरोप पर नियंत्रण करना चाहते थे। 19वीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमरीका का लक्ष्य भी ऐसा ही था।

3. स्थानीय साम्राज्यवाद के उदाहरण 18 और 19वीं शताब्दी में कई सम्राटों की नीतियाँ हैं। फ्रेडरिक महान, लुई पन्द्रहवाँ, पीटर महान तथा कैथरीन द्वितीय की पर राष्ट्र नीतियाँ स्थानीय साम्राज्य की नीतियाँ थीं। रूस द्वारा फिनलैण्ड, पूर्वी यूरोप, बाल्कन तथा ईरान पर नियंत्रण का प्रयत्न स्थानीय साम्राज्यवाद के उदाहरण हैं।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार परिस्थिति विशेष तीन प्रकार साम्राज्यवाद को उत्पन्न करती है तथा लक्ष्य के अनुसार भी तीन प्रकार के साम्राज्यवाद होते हैं। अतः साम्राज्यवाद के साधन में भी तीन प्रकार की विभिन्नताएँ स्थापित करना चाहिए–सैनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद। ये तीनों एक ही साम्राज्यवादी लक्ष्य–यथा स्थिति में परिवर्तन के साधन के रूप में कार्य करते हैं। यह तीन साधन हैं :–

1. सैनिक साम्राज्यवाद–सबसे स्पष्ट, प्राचीन तथा दमनकारी साधन जिसमें प्रत्यक्ष सैनिक आक्रमण द्वारा लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। युद्ध से साम्राज्य का निर्माण के साथ ही साथ विघटन भी होता है।

2. आर्थिक साम्राज्यवाद–अविकसित और निर्बल देशों की घरेलू और विदेशी नीतियों को नियंत्रित करने तथा उनका आर्थिक शोषण करने का अप्रत्यक्ष तरीका है। इसमें विजयी और पराजित का भेद नहीं होता वरन् एक राज्य आर्थिक नियंत्रण से दूसरे देश की समस्त नीतियों का नियंत्रण कर सकता है। बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से पूंजीवादी देशों की पिछड़े देशों में पूंजी लगाना उसका उदहारण है। जिसके द्वारा राष्ट्रीय पूंजीपतियों को लाभ मिलता है, सस्ते दाम पर कच्चा माल प्राप्त होता है और उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार मिल जाता है और अन्य राज्यों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने का माध्यम मिल जाता है।

3. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के द्वारा व्यक्तियों के मस्तिष्कों पर विजय पाकर उन्हें नियंत्रित करना होता है जिसके द्वारा दो राष्ट्रों के मध्य शक्ति सम्बन्धों को पलट दिया जाए। यह नियंत्रण विशेषतः उस देश के शासन एवं नीति निर्माता वर्ग पर होता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद सामान्यतः सैनिक व आर्थिक साम्राज्यवाद के सहायक के रूप में आता है। मार्गेन्थाऊ ने 1917 के बाद संसार के विभिन्न देशों में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार को सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कहा।

22.6 साम्राज्यवाद के विविध रूप

जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं कि साम्राज्यवाद का अर्थ ऐसी नीति से है जिसके द्वारा कोई राष्ट्र या शासक अपना नियंत्रण स्थापित करने अथवा कम से कम, उसे बढ़ाने हेतु अपनाते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष साधनों का प्रयोग कर अपनी शक्ति व आधिपत्य विस्तार का प्रयास करते हैं। साम्राज्यवाद ने पूर्व में प्रत्यक्ष रूप धारण किया परन्तु आधुनिक साम्राज्यवाद में अप्रत्यक्ष रूप अधिक मिलता है। विश्व पर नियंत्रण स्थापित करने की मात्राओं के संदर्भ में साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विविध रूप निम्नलिखित है : —

1. व्यावसायिक अथवा सामरिक कारणों से निर्बल व निर्धन देश अपने देश का कोई भाग निश्चित अवधि के लिए समझौते के आधार पर धनी या शक्तिशाली राज्य को पट्टे (lease) पर दे देता है जिसके फलस्वरूप पट्टा देने वाले राज्य की सम्प्रभुता नाममात्र की व पट्टा प्राप्त करने वाले राज्य की सम्प्रभुता वास्तविक होती है। इसके उदहारण के रूप में चीन द्वारा रूस को दिया गया मन्चूरिया बन्दरगाह संयुक्त राज्य अमेरिका का पनामा नहर पर पट्टे द्वारा अधिकार आते हैं।

2. जब निर्बल राज्य की रक्षा, विदेश संबंध, सुरक्षा, वित्त, संचार तथा कानून व्यवस्था से संबंधित मामले किसी शक्तिशाली राज्य के अधीन हो जाते हैं तो वह संरक्षित प्रदेश (Protectorate) बन जाता है। कभी–कभी आन्तरिक तथा आर्थिक मामलों पर भी साम्राज्यवादी शक्ति का नियंत्रण रहता है। अंग्रेजी राज्य में एक संरक्षित राज्य की स्थिति लगभग वही होती है जो कि एक उपनिवेश (crow colony) की होती है। अंग्रेजों के संरक्षित प्रदेश के उदाहरण 1914 से 1922 तक मिस्र और मलाया प्रायद्वीप और फ्रांस का संरक्षित क्षेत्र ट्यूनिस (1881 से 1957) था। यदि साम्राज्यवादी राज्य का नियंत्रण विदेशी मामलों आदि तक सीमित हो तो इसे 'अर्द्ध संरक्षित प्रदेश' कहा जाता है। अर्द्ध संरक्षित प्रदेश का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका के अधीन क्यूबा (1960 से पूर्व) तथा हैटी थे। संरक्षित प्रदेश का एक अन्य उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षित क्षेत्र है, जिसका उदाहरण पूर्व अबीसीनिया था जो 1906 के समझौते के अनुसार ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली के संयुक्त, नियंत्रण में था।

3. किसी क्षेत्र पर औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दिता बचाने के लिए दो या अधिक राज्यों का संयुक्त नियंत्रण सहराज्य (co-dominion) कहलाता है। इसके उदाहरण ब्रिटेन और मिस्र का सूडान में, फ्रांस, स्पेन और ब्रिटेन का मोरक्को के टैंजियर शहर तथा फ्रांस और ब्रिटेन को न्यू हब्रीडीज पर रहा। इस प्रकार के नियंत्रण में न तो विदेशी राज्य और न ही नियंत्रित देश के देशवासी संतुष्ट हो पाते हैं और विभाजित उत्तरदायित्व के कारण यह अन्ततः असफल साबित होता है।

4. जब साम्राज्यवादी देश को अन्य राज्यों पर ऋण देने, रेल मार्गों का निर्माण करने, खानों के प्रबन्ध अथवा सार्वजनिक विकास के काम करने के बारे में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं तो वह प्रभाव क्षेत्र कहलाता है। अधिकांश मामलों में ये उसे राज्य की सहमति के बिना होते हैं। प्रायः प्रभाव क्षेत्र अन्ततः या तो संरक्षित राज्य बना लिये जाते हैं या एकदम अपने में मिला लिये जाते हैं। यद्यपि वे न तो उपनिवेश और न आश्रित

राज्य ही होते हैं। आधुनिक युग के एशिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर में प्रभाव क्षेत्र साम्राज्यवाद के सुविधाजनक साधन रहे हैं।

5. प्रादेशिकेत्तर अधिकार अर्थात किसी विदेशी शासन का इस आधार पर पिछड़े देशों में रहने वाले अपने नागरिकों के हित हेतु न्यायालय स्थापित करने का अधिकार है क्योंकि इन देशों में न्याय–प्रक्रिया का समुचित मापदण्ड नहीं है जिसे समानता तथा न्याय के हेतु सभी लोगों पर लागू किया जा सके। परन्तु पिछड़े देशों में विकास होने पर विदेशी शक्ति अपने इस अधिकार को त्याग सकती है। उदाहरण के लिए 1894 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान पर तथा 1929 में सोवियत संघ ने चीन पर अपने दावों का त्याग किया। इन अधिकारों का प्रयोग प्राकृतिक न्यायालयों (consular courts) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। बहिर्देशिता (extra territoriality) के इस अधिकार में विदेशी नागरिकों को कुछ करों तथा प्रतिबंधों से छूट भी सम्मिलित हो सकती है।

6. साम्राज्यवाद का सबसे स्पष्ट या प्रत्यक्ष नियंत्रण पूर्ण विजय के रूप में दिखता है, जब विजयी राज्य विजित राज्य का विलय करके साम्राज्य निर्माण का कार्य करता है। इस प्रक्रिया से विजित देश विजयी देश के अधीन प्रदेश अथवा उपनिवेश के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अफ्रीका व एशिया के बहुत देशों पर ब्रिटेन का शासन इसके उदाहरण है।

7. वित्तीय (financial) और चुंगी (tariff) नियंत्रण भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। वित्तीय नियंत्रण के अन्तर्गत पूंजीपति देश सरकारी कर्मचारियों या बैंकों के प्रतिनिधियों के माध्यम से पिछड़े हुए देशों की आय और व्यय का नियंत्रण करते हैं, यद्यपि अन्य मामलों में ये देश स्वतंत्र होते हैं। यह नियंत्रण कई राज्यों द्वारा मिलजुलकर अथवा एक ही राज्य द्वारा हो सकता है। एक राज्य के नियंत्रण वाले उदाहरण में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा कुछ कैरीबियन, मध्य अमेरिकी राज्यों, लाइबीरिया और ईरान पर नियंत्रण आते हैं। जब पश्चिमी विकसित देशों द्वारा अविकसित देशों को विदेशी वस्तुओं पर चुंगी एक निश्चित सीमा से अधिक न बढ़ाने के लिए बाध्य किया जाता है उसे चुंगी नियंत्रण कहा जाता है। इस नियंत्रण का लक्ष्य पूंजीपति राष्ट्रों द्वारा अपने उत्पादित माल को अविकसित देशों में बेचना तथा उन देशों के उद्योग–धन्धों को विकसित न होने देना है।

8. राष्ट्र संघ के संविधान की धारा 22 द्वारा मैण्डेट या शासनादेश व्यवस्था भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। इसमें विजित प्रदेशों को विजयी राज्यों के साम्राज्य का अंग बनाने के स्थान पर इन्हें राष्ट्र संघ की संरक्षता में लिखित समझौतों की कुछ शर्तों के साथ विजयी राष्ट्रों को सौंपा गया और उन्हें इनके शासन का दायित्व भी सौंपा गया। राष्ट्र संघ द्वारा किये गये ऐसे समझौते या आदेश मैण्डेट कहलाते हैं। शासनादेश वाले ऐसे प्रदेशों को पिछड़ा हुआ समझ सभ्य राष्ट्रों द्वारा इनका उत्थान कर्तव्य समझा गया और बिना राष्ट्र संघ की अनुमति के इन्हें विजेता राष्ट्र अपने प्रदेश में नहीं मिला सकते थे। फिलीस्तीन, ईराक और सीरिया इसके उदाहरण हैं।

9. खुला द्वार और बन्द द्वार नीति (open door and close door policy) भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। साम्राज्यवादी देशों द्वारा आपसी सहमति से निर्बल राज्य पर से व्यापार करने, उद्योग धन्धों में पूंजी लगाने, कारखाने लगाने के समान अधिकार की व्यवस्था को खुला द्वार या मुक्त द्वारा नीति

कहते हैं अर्थात सभी साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए निर्बल राज्य के दरवाजे समान रूप से खुले हैं। चीन के विभिन्न भागों पर इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी की एकाधिकार की इच्छा को देखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने विरोध किया और खुला द्वार नीति को अपनाया। इस नीति के ठीक विपरीत यदि निर्बल राष्ट्र पर एक राष्ट्र के प्रभुत्व द्वारा अन्य देशों को इसमें व्यापार आदि के कोई अधिकार नहीं रहते हैं तो इसे बन्द द्वार नीति कहा जाता है। इंग्लैण्ड ने अपने अमरीकी उपनिवेशों के साथ और अमरीका ने फिलीपीन्स द्वीप समूह में इस नीति का अनुसरण किया था।

10. सैनिक गठबन्धन भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। वैसे तो सैनिक गठबन्धन कोई नई चीज नहीं है परन्तु आधुनिक काल में इनका महत्व बढ़ गया है। इन गठबन्धनों में सम्मिलित राष्ट्र की सम्प्रभुता बनी रहती है और वे एक सामान्य सैन्य नीति अपनाते हैं। यह सैनिक गठबन्धन किसी शक्तिशाली राष्ट्र के संरक्षण में किया जाता है– अमेरिका द्वारा सीटो, नाटो, सेन्टो सन्धियाँ ऐसे ही उदाहरण हैं। शक्तिशाली तथा विकसित राज्य द्वारा अन्य राज्यों के साथ संधि द्वारा हस्तक्षेप नीति भी एक उदाहरण है। किसी संभव विदेशी आक्रमण के विरूद्ध उनकी सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेकर उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की सीमा तक कार्यवाही करना भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। 1823 का मुनरो सिद्धान्त (Munro Doctrine) इसका उदाहरण है जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका ने किसी भी यूरोपीय शक्ति की ओर से आक्रमण के विरूद्ध सम्पूर्ण पश्चिमी जगत की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया तथा पनामा, निकारगुआ, क्यूबा, हैटी जैसे निर्बल राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया।

22.7 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नव उपनिवेशवाद

उपनिवेशवाद 'नए उपनिवेश' बनाने या प्राप्त करने की नीति है। एक विदेशी सत्ता द्वारा शासित क्षेत्र जिसके निवासियों को पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है उसे उपनिवेश कहते हैं। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को समानार्थी नहीं समझाना चाहिए। राबर्ट यंग दोनों के मध्य अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'साम्राज्यवाद केन्द्रीय शक्ति द्वारा संचालित होता है, यह विचारात्मक और वित्तीय कारणों के लिए विकसित राज्य की एक नीति होती है, जबकि उपनिवेशवाद व्यावसायिक उद्‌देश्यों या अधिवास के उद्‌देश्य हेतु विकास से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद में उपनिवेशवाद का कुछ रूप सन्निहित है परन्तु स्वयं उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद नहीं हो जाता क्योंकि इसमें राजनीतिक पक्ष का अभाव होता है। व्यावहारिक दृष्टि से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं होता और हॉब्सन ने दोनों शब्दों को प्र्यायवाची मानते हुए जर्मनी और फ्रांस के उपनिवेशवादी दल के उद्‌देश्यों और कार्यविधि की इंग्लैण्ड के साम्राज्यवादी दल के समरूप बताया। परन्तु ई.एफ. पैनरोज ने अपनी पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में क्रांति' में साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद में निम्न अन्तर बताये हैं : –

1. साम्राज्यवाद में अधीनस्थ प्रदेश का साम्राज्यवादी राज्य में विलय प्रत्यक्ष रूप से हो जाता है और साम्राज्यवादी राज्य की विधि व्यवस्था व शासन प्रणाली लागू कर दी जाती है जबकि उपनिवेशवाद में अधीनस्थ राज्य की विधि व्यवस्था और शासन व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता और मूल विधि एवं शासन व्यवस्था की कई विशेषताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं।

2. साम्राज्यवाद में साम्राज्यवादी राज्य द्वारा नये प्रदेशों को पूर्णरूप से विलय कर निवासियों पर बलपूर्वक सभ्यता, संस्कृति जीवन मूल्य, राजनीतिक संस्थाएँ, आर्थिक नीतियां अपनाने को बाध्य किया जाता है जबकि उपनिवेशवाद में मूल निवासियों की सांस्कृतिक तथा सामाजिक विशेषताएं जीवित रहती हैं।

3. साम्राज्यवाद में पूर्ण विलयन हो जाता है, जबकि उपनिवेशवाद में राष्ट्रीयता के विकास के अवसर अधिक होते हैं।

समय तथा युग परिवर्तन के साथ ही साम्राज्यवाद का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ। सैनिक तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद के स्थान पर आर्थिक साम्राज्यवाद आ गया है। आर्थिक साम्राज्यवाद अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से कोई देश साम्राज्यवादी नियंत्रण से मुक्त होता है परन्तु आर्थिक कारणों से अप्रत्यक्ष रूप से उन पर दबाव डालने का प्रयास करते हैं। साम्राज्यवाद के रूप परिवर्तन के साथ उपनिवेशवाद के स्थान पर नव–उपनिवेशवाद की स्थापना हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् परम्परागत साम्राज्यवाद समाप्त हुआ और अधिकांश राष्ट्र उपनिवेशवाद से मुक्त हो गये और नये स्वतंत्र देश कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी शक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये और इसे ही नव उपनिवेशवाद कहते हैं। नव उपनिवेशवाद का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान करने के पश्चात् भी उनसे आर्थिक लाभ प्राप्त करते रहना है अर्थात् सैनिक व राजनीतिक प्रभुत्व के स्थान पर आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना करना है। 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने तेल कूटनीति के द्वारा आर्थिक दृष्टि से अपना प्रभाव बनाये रखा था। अमेरिका द्वारा एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी यूरोपीय निर्धन देशों को आर्थिक सहायता देकर डॉलर साम्राज्यवाद नव उपनिवेशवाद के उदाहरण हैं। नव उपनिवेशवाद द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् की संकल्पना है। नव उपनिवेशवाद में पूँजीवादी समृद्ध पश्चिमी देशों द्वारा तृतीय विश्व के नव स्वतंत्र देशों का आर्थिक और तकनीकी सहायता के नाम पर शोषण होता है। नव उपनिवेशवाद के अन्तर्गत आर्थिक सहायता, सैनिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, तकनीकी का निर्यात, व्यापार और उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार द्वारा नियंत्रण का कार्य किया जाता है, दूसरे शब्दों में शोषण का कार्य किया जाता है। आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के तीन रूपों राजनीतिक, आर्थिक दृष्टि से पराश्रित देश तथा पिछलग्गू देश (satellites) में से आर्थिक दृष्टि से पराश्रित तथा पिछलग्गू देशों को ही नव उपनिवेशवाद के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। आर्थिक रूप से पराश्रित राज्य राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हैं परन्तु उनके उद्योग धन्धे तथा व्यापार पर किसी अन्य राज्य द्वारा नियंत्रण रहता है। ऐसे राज्य आर्थिक दृष्टि से अविकसित होते हैं। यदि किसी देश के अधिकांश उद्योग धन्धे तथा व्यापार विदेशी राज्य के पास हों और राज्य की राष्ट्रीय आय का 51 प्रतिशत भाग विदेशियों को प्राप्त होता है तो वह निश्चित रूप से पराश्रित राष्ट्र है। पराश्रित राष्ट्रों में आर्थिक साधन के माध्यम से विदेशी राष्ट्र की राजनीतिक सत्ता की स्थापना होती है। पिछलग्गू राष्ट्र वह हैं जो औपचारिक रूप से स्वतंत्र होता है। परन्तु आर्थिक व राजनीतिक दोनों पर विदेशी शक्ति का नियंत्रण होता है। आर्गेन्सकी के अनुसार द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् केवल सोवियत रूस ही पिछलग्गू देशों वाला राष्ट्र था।

आज के समय में नव–उपनिवेशवाद या साम्राज्यवादी राज्यों के प्रतीक बहुराष्ट्रीय निगम या कम्पनियाँ है जो लाभ अर्जित करने के लिए सस्ते श्रम, सस्ते कच्चे माल और अनुकूल बाजार की खोज में अपने देश के बाहर अपने क्रिया–कलाप को फैलाती हैं तथा पूंजीनिवेश करती हैं। इन्हें अपने देश की

साम्राज्यवादी सरकार का आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक समर्थन प्राप्त रहता है। लाभ के लिए ये कम्पनियाँ केवल आर्थिक कार्य ही नहीं करती वरन् विभिन्न देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप, नीति प्रभावित करने, अस्थिरता पैदा करने की भी कोशिश करती हैं। तृतीय विश्व में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका के बारे में कतिपय अध्ययनों से पता चलता है कि ये निगम भी शोषणकारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का रूप मात्र हैं जिनका उद्देश्य लाभ कमाना है। साम्राज्यवादी देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और सरकारें पूरी तरह से जुड़ी हुई हैं। बहुराष्ट्रीय निगम देशी सीमाओं में विश्वास नहीं करते और एक नई अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति, वर्ग और समाज तैयार करते हैं जो उनके उत्पादनों को विरोध रूप से पसन्द करता है और लोगों की रूचियाँ, भावनाएँ, आदत, स्वभाव सभी बदलते हैं। इस प्रकार उपनिवेशवाद राजनीतिक था तो नव–उपनिवेशवाद आर्थिक है और दोनों ही साम्राज्यवाद के अभिन्न अंग है।

22.8 सारांश

इस इकाई में हमने साम्राज्यवाद को समझने का प्रयास किया और सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद किसी देश की शक्ति व प्रभाव के विस्तार की नीति है जिसे पूर्ण विजय, उपनिवेशीकरण, सैन्य शक्ति के प्रयोग और अन्य साधनों द्वारा कार्यरूप प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। साम्राज्यवाद कोई नवीन संकल्पना नहीं है। अतः प्राचीन साम्राज्यवाद और आधुनिक साम्राज्यवाद का भेद किया जाता है। 15वीं शताब्दी तक प्राचीन साम्राज्यवाद और तत्पश्चात् आधुनिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। साम्राज्यवाद को 19वीं और 20वीं शताब्दी में पश्चिम देशों के राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व के रूप में देखा गया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साम्राज्यवाद विकसित पूंजीवादी राष्ट्र राज्यों की स्वाभाविक विशेषता है जो एकाधिकारी पूंजीवाद में परिवर्तित हो जाती है। यह सर्वमान्य स्वीकृत है कि आधुनिक युग का उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद की अभिव्यक्ति और इसके अभाव में उसका अस्तित्व संभव नहीं है। औपचारिक उपनिवेशों के बिना अनौपचारिक साम्राज्यवाद विद्वानों के मध्य एक विवादित विषय है। टॉम नेयर्न और पॉल जेम्स ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को भूमण्डलीकरण का प्रारम्भिक रूप कहा। साम्राज्यवाद को उचित ठहराने के लिए अनेक तर्क दिये जाते हैं और इसके कारकों के रूप में आर्थिक, धार्मिक, मानवीय, सांस्कृतिक आदि का उल्लेख किया गया। साम्राज्यवाद के अनेक रूप सामने आये हैं। साम्राज्यवाद के समर्थक इससे आर्थिक लाभ, शक्ति निर्माण और अविकसित देशों के विकास की दृष्टि से इसे लाभकारी बताते हैं जबकि विरोधी साम्राज्यवाद की सांस्कृतिक और नैतिक पतन, युद्ध और सैन्यवाद को प्रोत्साहन, शोषण की दृष्टि से इसकी आलोचना करते हैं। प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य साम्राज्यवाद अपने चरमोत्कर्ष पर था परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक उपनिवेशों के स्वतंत्र होने के कारण इसका शीघ्रता से विघटन हुआ परन्तु आज भी साम्राज्यवाद का अन्त नहीं हुआ है और नवउपनिवेशवाद के माध्यम से तृतीय विश्व के देशों का आर्थिक शोषण अभी भी जारी है जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसे संगठन को भी सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है जो निर्धन देशों को ऋण ग्रसित कर उन्हें निर्देशित नीतियों का पालन करने हेतु बाध्य करते है। इस प्रकार राजनीतिक साम्राज्यवाद परिवर्तित होकर आर्थिक साम्राज्यवाद के रूप में अभी भी विद्यमान है।

22.9 शब्दावली

न्यासिकता – गाँधी जी के आर्थिक विचारों की एक धारणा। इसके अन्तर्गत कारखाने अथवा किसी उद्यम में काम करने वाले मजदूर व मालिक काम के बदले में वेतन प्राप्त करते हैं तथा कारखाने का समस्त लाभ कारखाने के स्वामित्व में होता है। पूंजीपति–मजदूर विवाद का एक समाधान न्यासिकता है।

हिंसा – बल प्रयोग, जोर जबरदस्ती, किसी को मानसिक व शारीरिक हानि पहुँचाना।

नागरिक समाज – गैर–राज्य रूप की अनेक संस्थाओं की ऐच्छिक भागीदारी।

साम्यवाद – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का एक उच्चतम रूप जिसमें जहाँ एक ओर पूंजीवाद का अंत होता है वहीं दूसरी ओर पूरी तरह समाजवाद की स्थापना की जाती है।

साम्राज्यवाद – एक राष्ट्र द्वारा अपने नियंत्रण, प्रभुत्व का प्रसार, साम्राज्य का विस्तार अथवा इस विस्तार की नीति, एक राज्य द्वारा अपनी सीमाओं से बाहर अन्य देशों पर नियंत्रण।

कार्टल – फर्मों का समूह जो पारस्परिक सहमति से अपने उत्पादों का निश्चित मूल्य स्वीकृत करते हैं।

22.10 उपयोगी पुस्तकें

1. जे.सी. जौहरी एवं सीमा जौहरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा.लि. 2001।

2. ए.डी. आशीर्वादम एवं कृष्ण कांत मिश्र, राजनीति विज्ञान, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि. 7361 रामनगर, नई दिल्ली।

3. डॉ. बी.एल. फाड़िया राजनीतिक अवधारणाएँ, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

22.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा देते हुए साम्राज्यवाद के कारण बताइए।

(ब) साम्राज्यवाद के विविध रूपों का वर्णन कीजिए।

(स) साम्राज्यवाद के विकास का वर्णन कीजिए।

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**

(अ) लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार का वर्णन कीजिए।

(ब) साम्राज्यवाद सम्बन्धी मार्गेन्थाऊ के विचारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(स) नव–उपनिवेशवाद का वर्णन कीजिए।

(द) साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का अन्तर बताइए।

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

(अ) निम्नलिखित में से किसने पूंजीवाद को साम्राज्यवाद से जोड़ा था?

(i) मार्क्स

(ii) लेनिन

(iii) ग्रामसी

(iv) माओ

(ब) साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का साम्भाज्य चरण किसने कहा था?

(i) काटस्की ने

(ii) हॉब्सन ने

(iii) शुम्पीटर ने

(iv) लेनिन ने

(स) साम्राज्यवाद, उपनिवेशों के लिए प्रतिस्पर्द्धा है–

(i) हॉब्सन

(ii) लेनिन

(iii) शुम्पीटर

(iv) हिल्फरडिंग

(द) 'इम्पिरियलिज्म' किसकी पुस्तक का नाम है?

(i) शुम्पीटर

(ii) टॉनी

(iii) लेनिन

(iv) हॉब्सन

22.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) देखिए इकाई का 22.2 एवं 22.4 अंश

   (ब) देखिए इकाई का 22.6 अंश

   (स) देखिए इकाई का 22.3 अंश

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) देखिए इकाई का 22.5.1 अंश

   (ब) देखिए इकाई का 22.5.2 अंश

   (स) देखिए इकाई का 22.7 अंश का पैरा दो

   (द) देखिए इकाई का 22.7 अंश का पैरा एक

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

   (अ) (ii)

   (ब) (i)

   (स) (i)

   (द) (iv)

इकाई–23

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद

इकाई की रुपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 राष्ट्रवाद का विकास

23.3 राष्ट्रीयता का अर्थ एवं परिभाषा

23.4 राष्ट्रीयता के तत्व

23.5 राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद

23.6 अन्तर्राष्ट्रवाद का उद्‌भव एवं विकास

23.7 अन्तर्राष्ट्रवाद का सहायक तत्व

23.8 सारांश

23.9 संदर्भ सूची

23.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आप राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों से परिचित होगें –

- राष्ट्रवाद के विकास एवं उसके तत्वों से अवगत होगें।
- अन्तर्राष्ट्रवाद के उद्‌भव एवं विकास का अध्ययन कर पायेंगे।
- राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के बीच अन्तर को जान सकेगें।

23.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रवाद एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता है।

राष्ट्रवाद के अन्तर्गत मानव समूह और भावना दिखायी देती है जिसमें व्यक्ति की निष्ठा और राष्ट्रीयता दिखाई देती है। राष्ट्रवाद का जन्म 18वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हो गया था। राष्ट्रवाद ऐसी आध्यात्मिक भावना है जिसमें लोगों के हित समान एवं राजनीतिक एकता के आदर्श प्रत्यक्षित होते हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य स्वतंत्र रुप से स्वाधीन रहता है।

21वीं शताब्दी को अन्तर्राष्ट्रवाद का युग कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रवाद एक ऐसी विश्व व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति केवल अपने देश का सदस्य ही नहीं बल्कि विश्व का नागरिक होता है। इसके अन्तर्गत विश्व राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण, सहयोग व पारस्परिक प्रेम की भावना का विकास होता है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने–अपने पारस्परिक हितों के लिए एक दूसरे पर निर्भर है और इनके हित भी समान है। फलस्वरूप आवश्यकता है कि पारस्परिक संबंधों को मजबूत बनाया जाये।

23.2 राष्ट्रवाद का विकास

मध्ययुग से हमें राष्ट्रवाद की शुरुआत देखने को मिलती है। परन्तु इसके पूर्व भी मानव संगठन में राष्ट्रवाद के तत्व दिखायी देते हैं। मानव स्वभाव सदैव समुदाय में रहता रहा है। प्रारम्भ में मनुष्य कुटुम्ब में संगठित था फिर धीरे–धीरे लोगों ने समूह में रहना आरम्भ कर दिया। इसका प्रधान कुटुम्ब का वृद्ध व्यक्ति होता था सभी उसकी छत्रछाया में रहते थे इसमें राष्ट्रीयता देखने को मिलती है। कुटुम्ब से बाद में छोटे–छोटे नगर राज्यों की स्वतंत्र रुप से स्थापना हुई। इनकी अपनी शासन व्यवस्था थी। राज्य को अपना देश मानते थे तथा इनके बीच कभी–कभी युद्ध होता था। धीरे–धीरे राज्य की अपनी संस्कृति, शासन पद्धति, भाषा आदि का विकास हुआ यह स्थिति हमें यूनान में देखने को मिलती है। उसके पश्चात् रोमनों के यूनान विजय के बाद संकुचित यूनानी राष्ट्रीयता का अन्त हो गया। रोमनों का लक्ष्य साम्राज्यवाद था। अतः उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ। इस प्रकार रोमन साम्राज्य में राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ। इसके पश्चात् मध्य युग आया जिसमें सामन्तवाद का प्रभाव अधिक दिखाई देने लगा। सामन्तों के बीच सदैव विवाद होता रहता था। इससे उनके बीच राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होना असम्भव था। परन्तु धीरे–धीरे समय के साथ यूरोप की परिस्थिति में राष्ट्रीयता की भावना का उत्पन्न होना असम्भव था। परन्तु समय के साथ यूरोप की स्थिति में परिवर्तन हुआ। दाँते जैसे विद्वानों की रचनाओं में देशवासियों के दिल में मातृभाषा के प्रति श्रृद्धा एवं रुचि उत्पन्न हुई। इटली में मैकियावली द्वारा राष्ट्रवाद का प्रचार किया गया। 15वीं शताब्दी में अंग्रेजों और फ्रांसिसियों के बीच 100 वर्षीय युद्ध से उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। धार्मिक युद्ध के उपरान्त स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिला। जॉन आर्क को फ्रांस की राष्ट्रीयता का जन्मदाता कहा जाता है। सच्ची राष्ट्रीयता एक स्पष्ट बलवान राष्ट्र और जाति के लोगों पर अपना स्थान प्राप्त करने के उचित अधिकार का समर्थन करती है।

राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक अर्थों में पुनरुत्थान एवं सुधार के रुप में आरम्भ माना जाता है। पुनरुत्थान के द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय संस्कृति का विकास प्रारम्भ हुआ। 'वेस्टफेलिया की संधि' (1648) में सम्पन्न हुई इसके द्वारा राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। राष्ट्रीयता की भावना उद्वेलित करने में फ्रांस की राज्यक्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसके बाद औद्योगिक क्रांति ने भी इसे बल प्रदान किया। इन घटनाओं का इटली और जर्मनी जैसै देशों पर भी काफी प्रभाव पड़ा। जिससे ये राष्ट्र 19वीं सदी में शक्तिशाली राष्ट्र के रुप में उभरे। जर्मनी में हीगल, फिचे तथा इटली में मैजनी का नाम विशेष रुप से राष्ट्रीय भावना को विकसित करने में उल्लेखनीय रहा है।

प्रथम विश्वयुद्ध ने भी राष्ट्रीय राज्यों के विकास को काफी प्रभावित किया। युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ राज्यों का उदय हुआ और राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हुआ। रोमानिया, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर ही हुआ। वर्साय की संधि के बाद प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना चरम सीमा पर पहुँच गई। 18वीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न होने लगा। जापान आज राष्ट्रीय राज्य के सर्वश्रेष्ठ

उदाहरण के रुप में पेश किया जाता है। भारत देश में भी स्वाधीनता संग्राम के फलस्वरूप ही राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई।

23.3 राष्ट्रीयता का अर्थ एवं परिभाषा

राष्ट्रीयता अंग्रेजी शब्द नेशनलिटी (Nationality) का हिन्दी रुपान्तर है। 'नेशनेलिटी' शब्द नेशियों (Natio) से बना है, जिसका अर्थ जन्म या वंश होता है। साधारणतः लोग राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता का प्रयोग समान अर्थों में ही करते हैं। लेकिन वास्तव में दोनों में अन्तर है। राष्ट्रीयता शब्द के अन्तर्गत विभिन्नता के बावजूद दो तत्वों की प्रधानता पाई जाती है, भावना और मानव समूह की। लास्की, गिलक्राइस्ट, ब्लंटशली, जिर्मान आदि विद्वानों ने राष्ट्रीयता के पीछे भावनात्मक तत्व को अधिक प्रमुखता प्रदान की है। इनके अनुसार सभ्यता, रीति–रिवाज, भाषा आदि के परिणामस्वरुप समूह विशेष में एकात्मक भावना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना है जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती है।

राष्ट्रीयता की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है –

जिर्मान के अनुसार ''राष्ट्रीयता राजनीतिक प्रश्न नहीं है बल्कि आवश्यक रुप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की तरह एक आन्तरिक भावना है। यह एक आध्यात्मिक धारणा है तथा अनुभव करने विचारने और रहने का एक ढंग है।''

गिलक्राइस्ट के अनुसार 'राष्ट्रीयता का अभिप्राय उस आध्यात्मिक भावना से है जो जनसमुदाय में पाई जाती है जिसके सदस्य एक मूल अंश के हो, एक ही भू–खण्ड पर निवास करते हो, एक ही धर्म के अनुयायी हो, जिनके आर्थिक हित समान हो और राजनीतिक एकता के समान आदर्श रखते हो।

राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा न होकर शिक्षा सम्बन्धी धारणा है। कुछ लेखकों का मानना है कि राष्ट्रीयता एक सहज प्रवृत्ति है। सच्ची राष्ट्रीयता बलवान राष्ट्र या राष्ट्रिक जाति के लोगों को धरती पर अपना स्थान प्राप्त करने के उचित अधिकार का समर्थन करती है।

23.4 राष्ट्रीयता के तत्व–(Elements of Nationality)

राजनीति–विज्ञान के लेखकों ने राष्ट्रीयता के तत्वों का विस्तृत विवेचन किया है जिनसे राष्ट्र का निर्माण होता है। कुछ तत्व ऐसे हैं जिनके बिना राष्ट्रीयता का निर्माण नही हो सकता है। कोई ऐसा सार्वभौम नियम नहीं है जिससे उनका सापेक्षिक महत्व बलताया जा सके। यदि किसी देश में राष्ट्रीयता के कुछ तत्व कमजोर हो तो राष्ट्रीयता को मजबूत बनाये रखने के लिए दूसरे तत्वों को बलवान बनाना जरुरी है। सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण इन्हीं तत्वों के द्वारा किया जा सकता है।

(1) भौगोलिक एकता (Geographical Unity)

राष्ट्रीयता के विकास के लिए भौगोलिक एकता का होना जरुरी है यह एक प्रमुख तत्व है। एक लम्बे अर्से तक यहूदियों का अपना कोई देश नहीं था लेकिन एक आशा थी कि यहूदी राष्ट्रीयता को जीवित रख सकें और उसे शक्ति देती रहें कि किसी न किसी दिन पैलेस्टाइन उन्हें वापस मिल

जायेगा। एक भौगोलिक सीमा में निवास करने वालों के बीच सहयोग एवं सहानुभूति उत्पन्न होती है। अपने पड़ोस में रहने वालों को मनुष्य जितनी अच्छी तरह समझ सकता है उनके प्रति उसके दिल में जो सहानुभूति एवं संवेदना पैदा होती है। वह उससे दूर निवास करने वाले लोगों के लिए सम्भव नहीं है। राष्ट्रीय जन्मभूमि में ही उपयुक्त भौगोलिक इकाई है जिसमें मनुष्य की दूसरों का हित करने की भावनाएँ और प्रेरणाएँ सफल बनायी जा सकती है।

मनुष्यों के चरित्र तथा शारीरिक बनावट को भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु भी प्रभावित करती है। इनमें सामान्य शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक गुण होते हैं जिससे सहयोग और पारस्परिक सहानुभूति में सहायता मिलती है। पहले मनुष्य का दायरा परिवार, समाज, गाँव तक ही सीमित था। इसका कारण यह था कि मात्र इसी दायरे में लोगों के बीच पारसपरिक सहयोग सम्भव था। परन्तु आज यातायात के साधनों एवं संचार के साधनों के विकास तथा वैज्ञानिक विकास के कारण ही यह क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। आज विशाल राष्ट्र के निवासियों में भौगोलिक एकता की भावना स्पष्ट रुप से दिखायी पड़ती है। मैजिनी, गिलक्राइस्ट, रैम्जेम्योर आदि विद्वानों ने भौगोलिक एकता को राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक माना है। फ्रांस तथा जर्मनी के बीच कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है इसके बावजूद उनमें राष्ट्रीयता की भावना पाई जाती है। कुछ विद्वानों ने भौगोलिक एकता सम्बन्धी धारणा की आलोचना की है। प्रो0 हेज का मानना है कि ''जातीय भू–भाग के बीच प्राकृतिक सीमाओं की धारणा एक कोरी कल्पना है।'' इसके साथ ही साथ संसार को प्रकृति के द्वारा निर्धारित प्रदेशों के आधार पर विभक्त करने का परिणाम अनवरत् संघर्ष एवं युद्ध होगा।

(2) जातीय एकता–(Racial Unity)

राष्ट्रीयता के विकास हेतु जातीय एकता एक आवश्यक तत्व है। नस्ल एकता से व्यक्तियों में एक–दूसरे के लिए सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। जिर्मान जातीय एकता को राष्ट्रीयता के लिए सबसे प्रमुख तत्व मानते हैं। ब्राइस ने भी इसे मुख्य तत्व माना है। परन्तु कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो इसको महत्व नहीं देते हैं। उनमें हेनन, रोज, मुसोलिनी, रैम्जेम्योर प्रमुख है। वर्तमान में एक देश में विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं तथा समान जाति के लोगों द्वारा ही अनेक राष्ट्रों का निर्माण किया जाता है। वर्तमान में राष्ट्रीयता के विकास में जातीय एकता का महत्व न के बराबर रह गया हो, परन्तु फिर भी इसकी भूमिका को पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता है। कभी–कभी जातीय एकता विभिन्न राष्ट्रों को एक साथ करने में सहायक होती हैं।

(3) भाषायी एकता–(Unity of Language)

राष्ट्रीयता के विकास के लिए भाषा भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। भाषा ही मनुष्यों के विचार अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम है। भाषा के माध्यम से मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति एक–दूसरे से कर पाता है। किसी व्यक्ति को भली प्रकार समझने के लिए उसकी भाषा की जानकारी आवश्यक है। भाषा मानवीय एकता का एक प्रमुख एवं सशक्त माध्यम है। जिस कारण यह राष्ट्रीयता के विकास के लिए महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। रैम्जेम्योर का कहना है कि 'विभिन्न जातियों और नस्लों को प्रेम सूची

में बाँधने वाली शक्ति केवल भाषा है।' राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्रीय भावना में निःसन्देह रुप से भाषा सम्बन्धी एकता महत्वपूर्ण होती है, परन्तु यह राष्ट्रीयता के लिए अपरिहार्य नहीं है। भाषा की एकता के बगैर भी शक्तिशाली एवं सबल राष्ट्रों का निर्माण सम्भव है। भारत, रुस, स्विट्‌रलैण्ड आदि इसके प्रमुख उदाहरण है।

(4) सांस्कृतिक एकता–(Cultural Unity)

राष्ट्रीयता के विकास के लिए सांस्कृतिक एकता एक आवश्यक तत्व है। सांस्कृतिक एकता में सामान्य रीतियाँ और व्यवहार, सामान्य परम्पराएँ और साहित्य, लोक कथा, काव्य कला शामिल है। सांस्कृतिक एकता मानव जीवन को एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करती है। जिसमें जीवन के मानदंड कर्त्तव्य और निषेध मौजूद होते है। सांस्कृतिक एकता लोगों को परस्पर एक–दूसरे के करीब लाती है और उनमें ऐसी भावना पैदा कर देती है जो आसानी से नष्ट नहीं की जा सकती है। संस्कृति के निर्माण में इतिहास और परम्पराएँ महत्वपूर्ण है। भारतीय राष्ट्रीयता को सबल और ओजपूर्ण बनाना है तो उसको विचारों और आदर्शों की एकता पर जोर देना चाहिए जो भारतीय संस्कृति के मूल में है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी सांस्कृतिक वर्गों को एक शक्ति सम्पन्न रूप देने में अमेरिकीकरण के रुप में नागरिकता की शिक्षा ने बहुत बड़ा काम किया है।

(5) धार्मिक एकता–(Unity of Religion)

भाषा के समान धर्म भी राष्ट्रीयता के विकास हेतु एक महत्वपूर्ण तत्व रहा है। प्रारम्भिक काल में सामाजिक जीवन में धर्म का प्रमुख स्थान रहा है और उसका केन्द्र रीति–रिवाज, आचार व्यवहार रहा है। धार्मिक भावना के कारण उत्पन्न एकता ने राष्ट्रीयता की भावना को विशेष रुप से जाग्रत किया। आधुनिक समय में कुछ राष्ट्रों का आधार धर्म रहा है। भारत–विभाजन एंव पाकिस्तान निर्माण का आधार भी धर्म ही था। दूसरी ओर धर्म राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में बाधक भी सिद्ध हुआ है। मध्य युग के बाद राजनीति एवं धर्म को पृथक करने का क्रम रहा है। अब यह सर्वमान्य विदित है कि धर्म राजनीति से अलग है। भारत वर्ष एक ऐसा देश है जहाँ विभिन्न धर्मों के होते हुए भी राष्ट्रीयता का विकास होता रहा है। आज कल अधिकांश राज्य धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार करते रहे हैं। धार्मिक विभेद उनके राष्ट्रीय जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर पाया है। भारत के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका में भी धर्म राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश नहीं कर पाया है।

(6) समान आर्थिक हित–(Common Economic Interest)

समान आर्थिक हित बहुत से देश के निवासियों को एक सूत्र में बाँधने में सहायक रहे हैं। आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि देशों में नागरिकों एकता की भावना को जाग्रत करने में समान आर्थिक हितों का महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं। समान आर्थिक हित साम्राज्यवादी राष्ट्रों के संगठन का मुख्य आधार था। फिर भी यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि केवल समान आर्थिक हित की भावना ही राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत कर सकती है। परन्तु इतना अवश्य है कि यह राष्ट्रीय एकता को मजबूती प्रदान करती है।

(7) सार्वजनिक इच्छा–(Popular will)

डॉ0 अम्बेडकर भारतीय राष्ट्रीयता पर बहुत जोर देते हैं। उन्हीं के शब्दों में कहा गया है कि 'एकता की सुसंगठित भावना के कारण ही जिन लोगों में यह भावना होती है वो सब अपने को एक–दूसरे से सम्बन्धित समझते हैं।' प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक टॉयनवी, मैजिनी आदि ने सार्वजनिक इच्छा को राष्ट्रीयता का आधार माना है। लोगों के बीच सहयोग की आकांक्षा ही 'एक राष्ट्र बनने की इच्छा' को राष्ट्रीयता का मूल आधार माना है।

(8) सामान्य अधीनता–(Common Subjection)

सामान्य अधीनता भी राष्ट्रीयता का सबल कारण है। डॉ0 आर्शीवादम् के अनुसार कभी–कभी मजबूत और सुव्यवस्थित सरकार की अधीनता भी राष्ट्रीयता का सबल कारण होती है। अंग्रेजों के सुदृढ़ शासन ने कुछ हद तक भारतीय राष्ट्रीयता का विकास किया है।

(9) राजनीतिक की एकता–(Political Unity)

लोगों की सामान्य राजनीतिक इच्छा उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है। द्वितीय विश्वयुद्ध तक विश्व के अधिकांश भागों में गुलामी का साम्राज्य था। गुलामी से मुक्ति पाने के लिए देशवासियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारम्भ किया स्वतन्त्रता आन्दोलन ने उनके बीच राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत किया। केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था का भी राष्ट्रीयता के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिन देशों में राष्ट्रीय परम्परा व कुशल राज्य संगठन का मिलन हो जाता है। वहाँ राज्य सर्वाधिक स्थायी रहता है। भारत में भी राष्ट्रीयता का विकास कुशल एवं मजबूत शासन की देन है।

(10) अन्य तत्व–(Other Factors)

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त कुछ तत्व ऐसे भी हैं जो राष्ट्रीयता के विकास में सहायक रहे हैं। उदाहरण राष्ट्रीय प्रतीक, युद्ध आदि।

23.5 राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद (Nation, Nationality and Nationalism)

सामान्यतः आम भाषा में राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता है। परन्तु व्यवहार में इनके बीच काफी अन्तर है। कुछ विद्वान भी इसके सम्बन्ध में एकमत नहीं है।

राष्ट्र शब्द अंग्रेजी के नेशन शब्द का हिन्दी रुपान्तर है। नेशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन के नेशियो (natio) शब्द से हुई है जिसका अर्थ जन्म लेना होता है। इस शब्द का प्रयोग जातीय अर्थ में होता है। राष्ट्र का सम्बन्ध एक जाति से है। जाति का अर्थ व्यक्तियों के समूह से है। जो परस्पर रक्त सम्बन्ध से बँधे हुए दो या समान नस्ल के हो।

जब ऐसा समूह राजनीतिक संगठन का रुप धारण कर लेता है तो उसे राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्र को जातीय संगठन के रुप में ही नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि इसके अतिरिक्त भाषा, धर्म, संस्कृत आदि अनेक तत्व भी समूह को राष्ट्र का रूप प्रदान करते है। इस प्रकार राष्ट्र से तात्पर्य उस मानवीय समूह से है जो भाषा, धर्म, जाति, परम्परा, संस्कृति आदि बंधनों के स्वरूप राजनीतिक एकता के बंधन में बँध जाता है।

राष्ट्र की प्रमुख परिभाषाएं निम्न है –

गार्नर के अनुसार– ''एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक, जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण सचेत तथा निश्चयी होता है।''

बर्गेस–ने राष्ट्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी हुई वह जनता है जो एक अखण्ड भौगोलिक प्रदेश में निवास करती है।'

राष्ट्रीयता–(Nationality)

राष्ट्रीयता अंग्रेजी शब्द नेशनेलिटी का हिन्दी रुपान्तर है। नेशनेलिटी शब्द लैटिन भाषा के शब्द नेशियो (Natio) से बना है, जिसका अर्थ जन्म या वंश होता है। अधिकांश लोग राष्ट्र और राष्ट्रीयता को समान समझते हैं। लेकिन वास्तव में इसके रुप में अन्तर है।

विभिन्न विद्वानों में राष्ट्रीयता को लेकर अलग–अलग मत है। विद्वानों ने राष्ट्रीयता के पीछे भावात्मक तत्वों को अधिक प्रमुखता प्रदान की है और यह माना है कि राष्ट्रीयता में भावना और मानव समूह की प्रधानता पाई जाती है। लॉस्की, गिलक्राइस्ट जैसे विद्वानों ने भी भावात्मक तत्व को अधिक प्रमुखता प्रदान की। इनके अनुसार सभ्यता, रीति–रिवाज, भाषा आदि के परिणाम–स्वरूप समूह विशेष में एकात्मक भावना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना है। जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती है।

जिर्मान के अनुसार–राष्ट्रीयता राजनीतिक प्रश्न नहीं है, बल्कि आवश्यक रुप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की तरह एक आन्तरिक भावना है। यह एक आध्यात्मिक धारणा है तथा अनुभव करने और विचारने रहने का एक ढंग है।

राष्ट्रवाद–(Nationalism)

राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता की भावना को प्रकट करता है। राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता की भावना को संगठित कर भावनात्मक शक्ति प्रदान करता है। ग्रीस ने राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'राष्ट्रवाद एक प्रकार की सामूहिक भावना है जिसका आधार विभिन्न प्रकार की एकता या समानताएँ है और जिसका सम्बन्ध मुख्यतः राजनीतिक शक्ति अथवा विकास से है।' इस प्रकार राष्ट्रवाद को राष्ट्रीयता की भावना को संगठित रुप से प्रकट करने का भावात्मक माध्यम कहा जा सकता है। राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता को एक राष्ट्र के रुप में संगठित करने हेतु प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देती है।

राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता में भेद–(Difference Between Nation and Nationality)

राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता इन दोनों में जो मौलिक भेद पाया जाता है। वह है राजनीतिक संगठन या राजनीतिक रुप से संगठिन होने की भावना। जब कोई जनसमूह जाति, धर्म, भाषा, इतिहास आदि तत्वों के कारण भावानात्मक एकता में सम्बद्ध रहता है और अपने को जनसमूह से भिन्न समझता है तो उसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। परन्तु यदि वह जनसमूह राजनीतिक रुप से संगठित हो जाता है

या उसमें राजनीतिक रुप से संगठन की भावना जाग्रत होती है तो उसे राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्रीयता राष्ट्र के प्रारम्भ की स्थिति होती है उदाहरणार्थ, भारत एक राष्ट्र है जिसमें अनेक प्रकार की राष्ट्रीयताएँ है। जैसे–बंगाली, गुजराती, पंजाबी, मराठी, आदि। ये सभी राष्ट्रीयताए है इनके बीच भाषा, संस्कृति, परम्परा आदि के कारण भावनात्मक एकता पाई जाती है। इस प्रकार एक राष्ट्र में भिन्न–भिन्न प्रकार की राष्ट्रीयताएँ हो सकती है या समान राष्ट्रीयता के लोग अलग–अलग राष्ट्रों में हो सकते हैं।

23.6 अन्तर्राष्ट्रवाद का उद्‌भव एवं विकास–(Origin and growth of Internationalism)

19वीं शताब्दी को राष्ट्रवादी युग कहा जाता है। अतः 21वीं शताब्दी को अन्तर्राष्ट्रवाद का युग कहना गलत नहीं होगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को समाप्त कर उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए। वर्तमान में किसी भी राज्य के लिए एकांकी जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं है। आज समस्त विश्व को एक कहा जा रहा है क्योंकि वैज्ञानिक एंव तकनीकि प्रगति ने समूचे विश्व को एक कर दिया है और परिवहन संचार के साधनों ने भी देशों की आपसी दूरी काफी कम कर दी है। लोगों ने राष्ट्रीय अलगाव की भावना को त्यागकर अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना को अपनाया है। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना बनी रही। कुछ दार्शनिक इसे विश्व सरकार या विश्व एकता के रुप में भी देखते हैं।

अन्तर्राष्ट्रवाद का उद्देश्य आत्म–सम्मान और स्वशासनपूर्ण राष्ट्रों का एक ऐसा परिवार है जो समानता, शान्ति और आपसी एकता में बंधा हो। सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की मित्र है।

अन्तर्राष्ट्रवाद का अर्थ–(Meaning of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रवाद स्वशासनपूर्ण राष्ट्रों का परिवार है जिसका उद्देश्य शान्ति, सहिष्णुता, समानता, पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम है। गोल्ड–स्मिथ के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रवाद ऐसी भावना है जिसमें कि व्यक्ति अपने राज्य का सदस्य नहीं बल्कि विश्व का एक नागरिक है। राष्ट्रीय मनुष्य और मनुष्य जाति की एक आवश्यक कड़ी है। किसी विद्वान के अनुसार अन्तर्राष्ट्रवाद में विद्वेष एवं वैमनस्य को दूर कर पारस्परिक प्रेम की भावना उत्पन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रवाद 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना में विश्वास करता है तथा भ्रातृत्व की स्थापना करता है।

23.7 अन्तर्राष्ट्रवाद में सहायक तत्व (Factors of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में निम्नलिखित तत्वों का प्रमुख योगदान रहा है–

1. **राजनीतिक तत्व–(Political Elements)**

   अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में राजनीतिक तत्वों का प्रमुख योगदान रहा है। वर्तमान में समस्त विश्व अब एक हो चुका है। क्योंकि उनके मध्य अब दूरी की कोई समस्या नहीं है। राज्य राजनीतिक दृष्टि से भी एक दूसरे के नजदीक आ चुके हैं। उन देशों के बीच पारस्परिक कूटनीतिज्ञ, व्यापारिक

सम्बन्ध स्थापित हुए हैं एवं आपसी सहयोग भी विकसित हुआ है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला है।

2. विश्व बन्धुत्व की भावना–(Feeling of Universal Brother hood)

सभी धर्मों का उद्देश्य मानव सेवा करना है। धर्म के पंडितों महात्माओं ने मानव जाति को एक ही ईश्वर की संतान माना है। इसी आदर्श भावना के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का उदय होता है। मानव जाति के इसी स्वभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिला है। मनुष्य में स्वभाविक रुप से सहयोग की भावना रहती है। सभी व्यक्ति समाज में शांति एवं सहयोगपूर्ण जीवन जीना चाहते है। इस प्रकार से विश्वबन्धुत्व की भावना ने अन्तर्राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में सहयोग किया।

3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि–(International Law)

जिस प्रकार किसी देश के शासन संचालन हेतु संविधान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार देश के संचालन हेतु विधि या कानून की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय देशों के संचालन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार प्रारम्भ में लिए गये न्यायिक निर्णय, परम्पराएँ, संधि समझौता आदि होते हैं। जब दो राष्ट्रों के बीच विवाद उत्पन्न होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सहायता से इसका समाधान किया जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रवाद के विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

4. मानव अधिकार–(Human Rights)

लोकतंत्र में सभी लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए मानव अधिकार प्रदान किए गए हैं। ये मानव अधिकार नैसर्गिक है जो कि व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक है। ये मानव–अधिकार पूरे विश्व में मान्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विश्वव्यापी मानवाधिकारों की घोषणा की गई है। मानव अधिकार का अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

5. आर्थिक आत्मनिर्भरता–(Economic Iner cependence)

आर्थिक दृष्टि से देखा जाये तो कोई भी राष्ट्र तब तक आत्मनिर्भर नहीं हो सकता है। जब तक आर्थिक दृष्टि से आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रत्येक राष्ट्र एक–दूसरे पर निर्भर है। वर्तमान में वैज्ञानिक एवं तकनीक प्रगति के फलस्वरुप वर्तमान में व्यापार का स्वरुप भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। ये विकास ही अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रगति में सहायक है।

6. प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध–

अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में दोनों विश्वयुद्धों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रथम विश्वयुद्ध के गम्भीर दुष्परिणामों से बचने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई है। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपार जन–हानि हुई उसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) की स्थापना की गई।

23.8 सारांश

राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना ने हमें बहुत प्रभावित किया है। राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक भावना है। यह लोगों को एकीकरण के सूत्र में बाँधती है। सभ्यता, संस्कृति, भाषा में समूह के बीच एकीकरण की भावना पायी जाती है। राष्ट्रवाद का उदय 18वीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था। सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप राष्ट्रवाद का उदय हुआ। यूरोपीय देशों ने पुनरुत्थान के साथ ही राष्ट्रीय संस्कृति का विकास प्रारम्भ किया और राष्ट्रवादी भावना को बल मिला।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्टवाद की स्थापना में वैज्ञानिक एवं तकनीकि प्रगति ने काफी सहयोग प्रदान किया है। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को समाप्त करके विश्व व्यवस्था की स्थापना की बात की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय एकता को विश्व एकता के रुप में देखा जाने लगा हैं राष्ट्रों के बीच भी परस्पर निर्भरता बढ़ी है। राष्ट्रों ने अपने ऐतिहासिक अनुभवों से भी काफी सबक लिया है। अब राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से सहयोग की स्थापना करना चाहते हैं।

23.9 बोध प्रश्न

<u>दीर्घ उत्तरीय प्रश्न</u>

1. राष्ट्रवाद का अर्थ एवं विकास बताइए।
2. अन्तर्राष्ट्रवाद में सहायक तत्वों की विवेचना कीजिए।

<u>लघु उत्तरीय प्रश्न</u>

1. राष्ट्र के प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए।
2. राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

<u>बहुविकल्पीय प्रश्न</u>

1. अन्तर्राष्ट्रवाद में मुख्य सहायक तत्व है ?
   (1) विश्वबन्धुत्व की भावना
   (2) अन्तर्राष्ट्रीय विधि
   (3) मानव अधिकार
   (4) उपर्युक्त सभी

उत्तर–1 (4)

23.10 संदर्भ सूची

1. ए.डी. आर्शीवादम् तथा कृष्णकान्त मिश्र–राजनीति विज्ञान
2. Hayes C.J.H., Essays on Nationalism, Macmillan
3. लुई स्नाइडर, 'द मीनिंग ऑफ नेशनलिज्म'।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

DCEPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–3

समाज और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप

इकाई–24 आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका **132**

इकाई–25 राज्य और सामाजिक प्रक्रियाए 143

इकाई–26 राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया **161**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

DCEPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

1. **प्रो. एल. आर. गुर्जर**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान
2. **डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय,** असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच
3. **डॉ के. डी. सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया
4. **डॉ नीलिमा सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
5. **डॉ एच. के. शर्मा**, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
6. **डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज
7. **डॉ ए. पी. सिंह**, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू. प्रयागराज
8. **डॉ मोहम्मद शाहिद**, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू. प्रयागराज

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-ShareAlike 4.0 International License.

2020 (मुद्रित)

ISBN- 979-93-83328-35-2

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

खण्ड–03 परिचय

खण्ड–07 'समाज और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप' के अन्तर्गत–

ईकाई–24 'आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका' में राज्य की भूमिका एवं आर्थिक नीतियों का अध्ययन कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त अहस्तक्षेपवाद, कल्याणकारी राज्य का अध्ययन कर सकेंगे।

ईकाई–25 'राज्य और सामाजिक प्रक्रियाओं' के अंतर्गत आप धर्मनिरपेक्षता समान सिविल संहिता और संवैधानिक सुरक्षात्मक उपायों जैस विषयों का अध्ययन कर सकेंगे।

ईकाई–26 'राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया' में राज्य की भूमिका, उदारीकरण से सम्बन्धित मुद्दो, भूमण्डलीकरण, निजीकरण का हम अध्ययन कर सकेंगे।

इकाई 24

आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 राज्य और आर्थिक विकास की प्रक्रिया

24.2.1 वाणिज्यवाद और अहस्तक्षेपवाद

24.2.2 कल्याणकारी राज्य

24.2.3 मार्क्सवाद

24.3 राज्य और अर्थ–व्यवस्था के बीच सम्बन्ध

24.4 तृतीय विश्व के राज्य और आर्थिक प्रक्रियाएं

24.5 तुलनात्मक विवेचन

24.6 तृतीय विश्व की विकास सम्बन्धी समीक्षा

24.7 मिश्रित अर्थ–व्यवस्था और भारतीय राज्य

24.7.1 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था

24.7.2 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था की कमियॉं

24.8 सारांश

24.9 उपयोगी पुस्तकें

24.10 सम्बन्धित प्रश्न

24.11 प्रश्नोत्तर

24.0 उद्देश्य

राज्य आधुनिक समय में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा विविध प्रकार के कार्यों को करता है। जनता के विकासार्थ विभिन्न कलयाणकारी कार्यो एवं योजनाओं का राज्य द्वारा सृजन किया जाता है। इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप को राज्य की भूमिका का पता चल सकेगा जो वह आर्थिक कार्यों के लिये करता है तथा आप यह जान सकेंगे कि किस प्रकार राज्य की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन होता है।

24.1 प्रस्तावना

राज्य की संस्था ने व्यक्ति एवं समाज को विभिन्न रुपों से प्रभावित किया है तथा आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियो में एक प्रमुख अभिकर्ता की भूमिका निभाई है। इसी प्रक्रिया में स्वयं राज्य का प्रारुप भी बदला है। कभी राज्य ने केवल विधि एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी ली तो कभी आम जनता के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाया। कभी राज्य को पूँजीपति वर्गों, व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के हित साधक के रूप में देखा गया तो कभी साम्यवादी चिंतन से प्रभावित होकर इसे जनता के आर्थिक आवश्यक्ताओं की पूर्ति करने वाली एक एजेन्सी के रुप में देखा गया। बीसवीं शताब्दी का अन्त होते होते राज्य को परस्पर लड़ते हुए अभिकर्ताओं के मध्य सामन्जस्य स्थापित करते हुए भी देखा गया है। वर्तमान अध्ययन में हम इन सब बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे तथा तृतीय विश्व सहित भारत की मिश्रित अर्थ–व्यवस्था पर भी चर्चा करेंगे।

24.2 राज्य और आर्थिक विकास की प्रक्रिया

मानव एवं प्राकृतिक संसाधनों के विकास एवं दोहन के लिए राज्य आगे आया है और समय समय पर उसने निर्देशक अथवा आदेशक विकास का रुप धारण किया है। आर्थिक सम्पन्नता की तलाश में राज्य कई स्तरों से गुज़रा है। आगे इनका अध्ययन किया जा रहा है।

24.2.1 वाणिज्यवाद एवं अहस्तक्षेपवाद

मोटे तौर पर वाणिज्यवाद का अर्थ होता है–– आर्थिक राष्ट्रवाद अर्थात राज्य के आर्थिक जीवन तथा उद्योग–धन्धे सम्बन्धी कार्य तथा व्यापारिक कार्यकलापों का सरकार द्वारा नियमन। वाणिज्यवाद का उदय यूरोप के सामन्ती राज्यों से राष्ट्र राज्यों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। राज्य के नरेशों ने उस समय अपने राजनीतिक अधिकारों को ठोस बनाने के साथ–साथ राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था को केन्द्रीकृत एवं एकीकृत करने का प्रयास किया। वाणिज्यवाद का उदय काल 1600–1700 ई0 तक माना जाता है।

वाणिज्यवाद का एक पहलू राज्यों द्वारा सोना–चाँदी के संचयन की अनवरत कोशिश था। इसका अर्थ था कि किसी देश की सम्पन्नता देश के अन्दर जमा सोना–चाँदी पर निर्भर करती है। जिस देश के पास जितना अधिक भण्डार होगा वह उतना अधिक सम्पन्न होगा, परन्तु जिन देशों के पास प्रचुर मात्रा में सोना–चाँदी का भण्डार नही था, वह क्या करें ? वाणिज्यवाद के समर्थकों का इस सम्बन्ध में यह मत था कि सोने–चाँदी की कमी वाला देश दुनिया के अन्य देशों के साथ व्यापार बढ़ाने की कोशिश करे। आयात की मात्रा कम करके तथा निर्यात बढ़ाकर ऐसा देश भी प्रचुर मात्रा में सोना–चाँदी प्राप्त कर सकता है। इस प्रक्रिया को अनुकूल व्यापार संतुलन (Favourable Balance of Trade) कहा जाता है। इस संतुलन को बनाये रखने के लिए तीन मुख्य उपाय बताये गये :–

(अ) आयात की मात्रा को कम करने के लिये ऊँचा सीमा शुल्क तथा कुछ वस्तुओं के आयात पर पूर्ण प्रतिबन्ध

(ब) निर्यात पर उदार छूट, और

(स) उत्पादकों को व्यापक प्रोत्साहन जिस से व्यापारियों को विदेशों में बेचने के लिए अधिक से अधिक माल उपलब्ध हो सके।

वाणिज्यवाद के सिद्धान्त में तीन और विशेषताएं शामिल थीं –

(अ) आर्थिक राष्ट्रवाद, (ब) पैतृकवाद और (स) साम्राज्यवाद

नये उद्योगों को प्रोत्साहन, निर्यात में वृद्धि और कम से कम आयात आर्थिक राष्ट्रवाद के अंग थे वहीं वाणिज्यवाद के समर्थक यह तर्क देते थे कि राज्य को जनता का अभिभावक होना चाहिये ताकि युद्ध या अन्य आपात स्थितियों में राज्य को एक स्वस्थ, सम्पन्न एवं बहुसंख्यक जनता का समर्थन मिल सके। अन्त में वाणिज्यवाद के समर्थकों ने साम्राज्य स्थापित करने का तर्क दिया। उपनिवेशों की स्थापना से कच्चे माल की प्राप्ति एवं तैयार माल की बिक्री के लिये बाज़ार का उपलब्ध होना सुनिश्चित हो जायेगा।

वाणिज्यवाद के युग में राज्य ने राष्ट्रीय आय को मज़बूत करने के लिये बड़े–बड़े व्यापारियों को संरक्षण प्रदान किया। कच्चे माल को निर्मित माल में परिवर्तित कर निर्यात की व्यवस्था की तथा दूसरे देशों से आयात पर कठोर नियम बनाये। इस प्रकार राज्य का हस्तक्षेप आर्थिक मामलों में बढ़ता गया। लेकिन इंग्लैंड में राजा के अधिकारों में कमी एवं संसद के अधिकारों में वृद्धि के कारण वाणिज्यवाद के माध्यम से हस्तक्षेप के विरुद्ध अहस्तक्षेप की नीति को स्वर मिलने लगा।

लैसेफेयर (Laissez Faire) फ्रेंच भाषा का वांक्यांश है जिसका अर्थ 'करने दो' *(* अर्थात् जैसा चाहें वैसा करने दो) होता है। अहस्तक्षेपवाद जिसे (Laissez Faire) लैसेफेयर भी कहते हैं, बौद्धिक स्तर पर एडम स्मिथ तथा डेविड रिकार्डो के लेखों एवं प्रस्तावों से वाणिज्यवाद का पतन होने लगा तथा फ्री मार्केट (मुक्त बाज़ार) के सिद्धान्त को बढ़ावा मिलना प्रारम हो गया।

व्यापार पर लगी अनेक पाबन्दियों से तंग आकर एक दिन फ्रांसीसी व्यापारी विन्सेन्ट द गोर्ने (Vincent de Gourney) ने अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में 'लेसे फेयरे' अर्थात चीज़ों को अपने हाल पर छोड़ दो' का प्रयोग किया। तब से राज्य के हस्तक्षेप से बचने की नीति के रुप में इसका प्रयोग होने लगा। आर्थिक दर्शन के रुप में इसका अर्थ है कि राज्य का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के साधनों का लाभ उतना नही हो पाता जितना राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में हो पाता है।

1776 ई0 में एडम स्मिथ (Adam Smith) की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में 'वाणिज्यवाद' की नियामक तथा एकाधिकारपरक अवधारणाओं की आलोचना की गयी। अपनी पुस्तक में एडम स्मिथ ने यह बताया कि उत्पादन एवं आर्थिक विनिमय में कुछ 'प्राकृतिक विधान' होते हैं। इन्हें अपना कार्य करने देना चाहिये। बाद में माल्थस तथा रिकार्डो एवं कुछ अन्य शास्त्रीय अर्थ शास्त्रीयों ने ''लेसे फेयरे'' के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। इनके अनुसार आर्थिक क्रियाकलापों की शासन एवं राजनीति से अलग अपनी दुनिया होती है जो कतिपय बुनियादी विधानों से नियमित होती है जैसे मांग एवं पूर्ति के नियम। उनके विचार में हर आदमी को स्वहित के अनुसार काम करना चाहिये, क्योकि व्यक्ति अपना हित जितना जान सकता है, दूसरा नही। हर व्यक्ति के कल्याण का कुल जमा ही आम लोगों का कल्याण तथा आज़ादी होगा। आर्थिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका कम से कम होनी चाहिये। शासनतंत्र का दायरा जान और माल की सुरक्षा, कानून व्यवस्था, न्याय निष्पादन आदि तक ही सीमित रहना चाहिये। केवल व्यवसाय ही

नही शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य व्यक्तिगत मामलों में राज्य को दख़ल देने की कोई ज़रुरत नही।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ मुक्त बाज़ार व्यवस्था प्राकृतिक रूप से जुड़ गई। 'लेसे फेयरे' का सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी के युरोपीय उदारवाद का अंग बन गया। उदारवादी जैसे बौद्धिक क्षेत्र में विचार की स्वतंत्रता पर बल देते थे उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यापार और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा के समर्थक थे। इनके अनुसार राज्य को एक ग़ैर–सक्रिय 'पुलिसमैन' की भूमिका निभानी थी जिसे न्याय का संचालन, निजी सम्पत्ति की सुरक्षा तो करनी है लेकिन नागरिकों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना है।

समय गुज़रने के साथ–साथ 'लेसे फेयरे' का विरोध होने लगा, क्योकि इस सिद्धान्त के समर्थक श्रमजीवियों के हित साधक नही थे। उनका विश्वास 'पारिश्रमिक का लौह कानून' (Iron Law of Wages) में था जिसके अनुसार श्रमजीवियों को न्यूनतम वेतन ही मिलना चाहिये जिससे, वह अपने को जीवित रख सकें। ज़्यादा वेतन मिलने पर वह ज़्यादा बच्चे पैदा करेंगे और फिर उसी तरह निर्धन बने रहेंगे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनः आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप की मांग की जाने लगी।

24.2.2 कल्याणकारी राज्य

यद्यपि आज हर राज्य अपने लिए कल्याणकारी राज्य होने का दावा करता है लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य 'पुलिस राज्य' से अधिक नही थे जिनका मुख्य कार्य शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना था। उस समय कल्याण कार्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूहों का कार्य क्षेत्र माना जाता था।

इस अवधारणा के विपरीत यह धारणा विकसित हुई कि राज्य के कुछ और भी कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व हैं यथा – नागरिकों का अधिक से अधिक कल्याण। इस बात की व्यवस्था करना कि उनके रहन–सहन तथा खान–पान का अच्छा स्तर रहे। उनके भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास के समस्त साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों। उनकी तथा उनके बच्चों की शिक्षा का समूचित प्रबन्ध हो।

टी.डब्लू. केन्ट (T.W.Kent) के अनुसार कल्याणकारी राज्य ''वह राज्य है जो अपने नागरिकों को बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवायें उपलब्ध कराता है।'' हॉबमैन (Hobman) का विचार है कि कल्याणकारी राज्य साम्यवाद (पूर्ण राज्य नियंत्रण) तथा निरपेक्ष व्यक्तिवाद (न्यूनतम राज्य हस्तक्षेप) के मध्य समझौता है। अन्य शब्दों में कल्याणकारी राज्य निजी उद्यम के लाभों को स्वीकार करते हुए जीविकोपार्जन की सुरक्षा प्रदान करता है तथा इसके द्वारा राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण की व्यवस्था की जाती है।इस प्रकार कल्याण दया का विषय नही है बल्कि यह नागरिकों का अधिकार है।

यूरोप में विशेषकर औद्योगिकरण ने जहां आर्थिक विकास को आगे बढ़ाया वहीं शहरों की संख्या में भी वृद्धि हुयी जिसने जनसंख्या के एक बड़े भाग को शोचनीय दशा में जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किया। आधुनिक राज्य ने इन समस्याओं को हल करने के लिए मानवीय आधारों पर तथा सामाजिक अशान्ति को रोकने के लिए कदम आगे बढ़ाया । इस तरह विधियों एवं नियमों के निर्माण से कल्याणकारी राज्य की स्थापना अस्तित्व में आयी जो न सिर्फ निर्धनों के लिए है अपितु उन्हें नागरिक के रूप में देखते हुए उनकी समस्याओं का निदान करना है।

टी.एच. मार्शल (T. H. Marshall) के अनुसार ''कल्याणकारी राज्य लोकतंत्र, कल्याण एवं पूँजीवाद का सम्मिश्रण है।'' अब राज्य के द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त असमानताओं को लोकतंत्र के माध्यम से समाप्त करने का प्रयास किया जाता है। विश्व के अधिकांश देशों में राज्य का कल्याणकारी स्वरुप देखने को मिलता है लेकिन कल्याणकारी राज्य की आलोचना भी की जाती है जैसे आम जनता सरकारी सहायता के कारण कामचोर एवं निकम्मी बन जाती है। सरकारी कार्यों में भ्रष्टाचार के कारण सहायता की वस्तुऐं एवं धनराशि वैध व्यक्तियों एवं समूहों तक न पहुंचकर ठेकेदारों, बिचौलियों एवं नौकरशाहों के द्वारा हड़प ली जाती है, जिससे राष्ट्रीय आय पर बड़ बोझ पड़ता है। उत्पादकता में कमी आती है तथा आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण फिर गरीब, असहाय जनता को आर्थिक बोझों का सामना करना पड़ता है।

24.2.3 मार्क्सवाद

मार्क्सवादी विचारधारा निरपेक्ष व्यक्तिवाद, पूँजीवाद एवं कल्याणकारी राज्य के विरोध में आगे बढ़ी। मार्क्स का विचार था कि उदारवादी राज्य पारिश्रमिक बढ़ाकर, कार्य स्थलों पर कुछ सुविधायें देकर तथा कुछ आर्थिक लाभ की व्यवस्था करके श्रमिकों की वर्ग चेतना को समाप्त करना चाहते हैं ताकि समाजवादी क्रान्ति न आ सके।

मार्क्स के अनुसार मनुष्य समाज सदैव से ही दो वर्गों में विभाजित रहा है इसमें से एक वर्ग थोड़े से विशेषाधिकार युक्त व्यक्तियों का वर्ग रहा है जो उत्पादन के साधनों का स्वामी रहा है। दूसरा वर्ग उन बहु–संख्यक श्रमजीवियों का है जो अपने श्रम से कच्चे माल को तैयार माल में परिवर्तित करते हैं।

इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसका साधारण अर्थ यह है कि श्रमिक अपने श्रम से जो उत्पादन करता है उसका एक बहुत छोटा अंश ही उसे मज़दूरी में मिलता है, शेष पूँजीपति अपने लाभ में शामिल कर लेता है और इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य श्रमिक के शोषण का साधन है। इस असमानता को दूर करने के लिये मार्क्स वर्ग–संघर्ष की बात करता है जहाँ श्रमिकों की ही विजय होनी है और इस प्रकार मज़दूरों का शासन स्थापित होगा जहाँ सभी को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय उपलब्ध कराया जायेगा। उत्पादन के साधनों पर संक्रमण काल में राज्य का नियंत्रण होगा और राज्य सबको उनकी आवश्यक्ता के अनुसार उपलब्ध करायेगा।

24.3 राज्य और अर्थ–व्यवस्था के बीच सम्बन्ध

ऊपर दिये गये विचारों से जहां राज्य की प्रकृति का पता चलता है वहीं अर्थ–व्यवस्था एवं राज्य के मध्य सम्बन्धों की अन्तः क्रिया का भी ज्ञान होता है। कुल मिलाकर यह सर्वविदित है आधुनिक राज्य व्यवस्था की स्थापना के पूर्व तथा पश्चात अर्थ–व्यवस्था पूर्ण रूप से एक स्वतंत्र संस्था न रहकर सदैव राज्य से जुड़ी रही है। यह अलग बात है कि कभी अर्थ–व्यवस्था पर राज्य का प्रभाव अधिक हुआ तो कभी अर्थ–व्यवस्था ने राज्य के कार्यों को प्रभावित किया। जैसा हम ने ऊपर के पृष्ठों में देखा कि किस प्रकार वाणिज्यवाद में राज्य का आर्थिक कार्यों के लिए हस्तक्षेप बढ़ा था तथा फिर 'लैसे फेयर' अर्थात अहस्तक्षेप की नीति का मतलब था कि राज्य को आर्थिक कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप ही करना चाहिये। इस प्रकार संगठित जीवन एवं समाज में हम राज्य की संस्था का अनुभव करते हैं चाहे

बदलती हुयी आर्थिक परिस्थितियों से कभी राज्य केन्द्रीय संस्था बन जाता है तो कभी राज्य का दायरा संकुचित हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक शक्तिया ज़्यादा प्रबल हो रही हैं तथा वह ही राज्य को नियंत्रित कर रही हैं।

24.4 तृतीय विश्व के राज्य और आर्थिक प्रक्रियाएं

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व मंच पर राज्य व्यवस्था ने विश्व के राज्यों को परस्पर विरोधी ख़ेमों में जहां बांटने का कार्य किया वहीं लम्बे समय से पराधीन रहे राज्यों की स्वतंत्रता का मार्ग भी प्रशस्त किया। भारत की स्वतंत्रता के बाद एशिया, अफ्रीका एवं लातीनी अमेरिका में धीरे–धीरे अनेक देश उपनिवेशी शासन से मुक्त हुए। विश्व में बाज़ार अर्थ–व्यवस्था पर आधारित पश्चिम के राज्य थे तथा इनके विपरीत सोवियत यूनियन (रुस) के नेतृत्व में गठित कम्युनिस्ट राज्य थे जहां पर निजी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था तथा उत्पादन तथा वितरण प्रणाली पर राज्य का स्वामित्व स्थापित किया गया था। इस युग की सैनिक प्रतिस्पर्धा को शीत युद्ध के नाम से जाना जाता है। इसी काल में एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राज्य जो किसी सैनिक संगठन में जाना नहीं चाहते थे और जो अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहते थे उन राज्यों ने असंलग्नता की नीति अपनाई। इन देशों को तृतीय विश्व के राज्य कहा जाने लगा।

फ्रांसीसी इतिहासकार अल्फ्रेड सॉवी ने 1952 में 'तृतीय विश्व' शब्द का प्रयोग उन देशों के लिये किया था जो सैनिक संगठन 'नाटो' (NATO) या वार्सा सन्धि (WARSAW PACT) से अलग थे। तत्पश्चात 1950 के दशक के अन्त तक फ्रांसीसी मीडिया में एशिया, अफ्रीका तथा लातीनी अमेरिका के अल्प–विकसित देशों के लिये तृतीय विश्व शब्द का प्रयोग बहुदा किया जाने लगा। औद्योगीकृत पूँजीवादी देशों को प्रथम विश्व तथा साम्यवादी देशों को द्वितीय विश्व कहा जाता है।

तृतीय विश्व के राज्यों में निर्धनता, अल्प–विकास, अशिक्षा, कुपोषण, जनसंख्या विस्फोट जैसी सामूहिक समस्याएं हैं। यद्यपि शीत युद्ध काल में अधिकांश देश पूर्ण पूँजीवादी या पूर्ण साम्यवादी आर्थिक पद्धति से अलग हो कर एक नवीन आर्थिक प्रक्रिया को अपनाया फिर भी तीसरी दुनिया के सारे देशों में आर्थिक समरुपता देखने को नही मिलती। कुछ राज्यों ने तीसरी दुनिया की विशेषताएं रखते हुए भी अमेरीकी सैनिक एवं पूँजीवादी व्यवस्था का अनुसरण किया तो कुछ राज्यों ने सोवियत प्रणाली वाली आर्थिक व्यवस्था को अपनाया। इसी बीच इन नवोदित राज्यों में जो सामान्य बात थी वह आर्थिक विकास का मुद्दा था। विकास हेतु कुछ राज्यों ने पश्चिमी देशों से सहायता अनुदान प्राप्त किया तथा कुछ राज्यों ने सोवियत ब्लाक से अनुदान राशि एवं तकनीक प्राप्त की। कुछ राज्य इसमें सफल रहे कि उन्होंने शीत युद्ध का फायदा उठाते हुए दोनों गुटों से सहायता अनुदान एवं तकनीकी सहयोग प्राप्त किया। भारत इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जहां अमेरीकी सहायता तथा कोलम्बो प्लान के अन्तर्गत राष्ट्रमण्डल के देशों से सहायता मिली वहीं भारत में भारी उद्योगों की स्थापना में सोवियत रुस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस प्रकार तृतीय विश्व के देश अपनी आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अलग–अलग नीतियों को अपनाते हुए दिखायी देते हैं। अफ्रीका के अधिकांश राज्यों में राज्य का आर्थिक जगत में प्रभुत्व स्थापित नही हो पाया। एशियाई राज्यों में अलग–अलग स्वरूप देखने को मिलता है। कही पर बाज़ार अर्थ–व्यवस्था का

प्रतिमान हावी रहा और राज्यों ने फैसीलीटेटर (Facilitator सुविधा प्रदानकर्ता) की भूमिका निभायी। कुछ देशों में सेना तथा उद्योग का सम्मिश्ररण हो गया जैसे पाकिस्तान में जहां सेना का देश की रक्षा के साथ–साथ अर्थ–व्यवस्था में बड़ा भाग है। अफ्रीका तथा एशिया के कुछ देशों में बाहरी प्रभावों एवं आन्तरिक शक्तिशाली समूहों के कारण लोकतंत्र के स्थान पर सैनिक क्रान्ति एवं सैनिक शासन की स्थापना देखने को मिलती है।

24.5 तुलनात्मक विवेचन

इस प्रकार तीसरी दुनिया के देश भी उस बीमारी से अपने को नहीं बचा सके जो औद्योगिक राज्यों या समाजवादी राज्यों में व्याप्त थी। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से गुज़रते हुए संस्थाओं का निर्माण करना, उन्हें पुराने सामन्ती प्रभावों से मुक्त रखना तथा जनता की महत्वाकांक्षाओं तथा एवं उनकी आवश्यक्ताओं की पूर्ति के लिये नवोदित राज्यों ने जो मार्ग अपनाया उसमें दृढ़ता नही थी। इसी प्रकार लोकतंत्रीय प्रतिस्पर्द्धा का ग़लत प्रयोग करने के कारण नौकरशाही की शक्तियों में वृद्धि तथा राष्ट्रीय कोष एवं संसाधनों में लूट–खसूट की प्रवृत्ति और प्रशासनिक एवं राजनीतिक भ्रष्टाचार में वृद्धि हुयी। जिन वंचितताओं के निराकरण के लिये आर्थिक प्रक्रिया का सहारा लिया गया उसमें निराशा ही ज़्यादा हाथ लगी। समाज की स्थापना तथा सामाजिक न्याय का अभिवचन ज्यादातर खोखला ही रहा। यही कारण है कि तीसरी दुनिया के देश कुछ अपवादों को छोड़कर भारी संख्या में आज भी व्यापक निर्धनता, अशिक्षा, कुपोषण एवं स्वास्थ्य की समस्याओं से जूझ रहे हैं। ऋण–ग्रस्तता बढ़ी है एवं अधिकांश देश ऋण अदायगी के चक्र–व्यूह में फंस गये हैं जिस से राजनीतिक स्वतंत्रता के भीतर नव–उपनिवेशवादी राज्यों का फिर से नये रूप में हस्तक्षेप दिखायी दे रहा है।

24.6 तृतीय विश्व की विकास सम्बन्धी समीक्षा

तीसरी दुनिया के राज्यों ने विकास के लिये लोकतांत्रिक स्वरुप को अपनाने का प्रयास किया लेकिन इसी के साथ–साथ समस्या यह पैदा हुयी कि कहीं फिर से यह देश पूँजीवादी शोषण का शिकार न हो जायें इस लिये तीसरी दुनिया के बहुत से देशों ने नियन्त्रित अर्थ–व्यवस्था का प्रतिमान अपनाया। विकास एक आवश्यकता थी तथा अधिकांश देश औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र हुए थे इसलिये इनके सामने राष्ट्र निर्माण की समस्या भी थी जिस से वह अपनी कठिनाई एवं दीर्घ संघर्ष से हासिल की गयी स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकें। परन्तु जल्द ही तीसरी दुनिया के देशों में नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञ मज़बूत हो गये। सरकारें स्वयं बड़ी पूँजीपति बन गयीं। राज्य की शक्ति के साथ लोक कल्याण के लिये बड़ी–बड़ी नीतियां बनाई गयीं लेकिन इन कल्याणकारी नीतियों का लाभ असहाय और ग़रीब जनता को कम मिला। विदेशी सहायता धनराशि और विदेशी अनुदान का आधारभूत ढांचों की कमी एवं पारदर्शी लोकतंत्र की अनुपस्थिति में बड़े पैमाने पर दुरुपयोग होने लगा। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जब व्यापक पूँजी की ज़रूरत पड़ी तो विश्व बैंक से क़र्ज़ लिया गया। 1980 तक आते–आते तीसरी दुनिया के देशों के सामने क़र्ज़ के जाल में फंस जाने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं बचा था।

विकास के क्षेत्र में राज्य की व्यापक भूमिका है लेकिन तीसरी दुनिया के अधिकांश देश हस्तक्षेपी प्रकृति के होते हुए भी समावेशी विकास में पीछे रह गये।

सड़कों, विद्यालयों एवं ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों के निर्माण के स्थान पर तीसरी दुनिया की सरकारों ने बड़े–बड़े हवाई अड्डे, विश्वविद्यालय और बड़े–बड़े शहरी अस्पताल बनवाये। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की अनुमति के स्थान पर राज्य द्वारा संचालित उद्योगों एवं व्यापार में राज्य ने अपनी व्यापक अदक्षता को शरण दिया। पिछले अर्द्ध शतक पर फैले हुए विकास के अनुभवों से यह प्रतीत होता है कि इन देशों में सुशासन की बहुत कमी है और सरकारें हीं समस्या का कारण हैं।

24.7 मिश्रित अर्थ–व्यवस्था और भारतीय राज्य

मिश्रित अर्थ–व्यवस्था एक ऐसी प्रणाली है जिस में राज्य एवं निजी क्षेत्र दोनों मिलाकर काम करते हैं। मिश्रित अर्थ–व्यवस्था में मूल विचार यह है कि उत्पादन के स्रोत निजी स्वामित्व में हों और यह कि बाज़ार आर्थिक समन्वय के प्रमुख अभिकर्ता के रुप में हो तथा लाभ कमाने वाली संस्थायें एवं पूँजी का संचय अर्थ–व्यवस्था को गतिमान करता हो। चूँकि मिश्रित अर्थ–व्यवस्था पूरी तरह से बाज़ार अर्थ–व्यवस्था या पूँजीवाद पर न तो आधारित है न उत्पादन के सभी स्रोतों पर राज्य के पूर्ण नियंत्रण को (जैसा कि साम्यवादी देशों में हुआ) स्वीकार करती है। यह अर्थ–व्यवस्था दोनों विपरीत आर्थिक विचारधारा अर्थात पूँजीवाद एवं समाजवाद के कुछ लक्षणों को मिश्रित करती है इसलिये इसे मिश्रित अर्थ–व्यवस्था का नाम दिया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन में राजनीतिक वाद–विवाद के मध्य 'मिश्रित अर्थ–व्यवस्था' की अवधारणा का प्रचलन हुआ। ब्रिटेन में 1930 के दशक में मज़दूर दल एवं अनुदार दल दोनों के कुछ प्रमुख नेता जैसे आर. एच. टॉनी (R. H. Tawney) एन्थोनी क्रासलैण्ड (Anthony Crosland) और एन्ड्रीव शोनफील्ड (Andrew Shonefield) (मज़दूर दल) तथा अनुदार दल के हैराल्ड मैकमिलन (Harold Macmillan) ने इस प्रणाली का समर्थन किया।

मिश्रित अर्थ–व्यवस्था में जैसा कि हम ने देखा दोनों प्रचलित प्रणालियों का मिश्रण है। प्रत्येक राज्य अपने स्तर पर तथा अपनी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर मिश्रण की मात्रा तय करता है। कुछ राज्यों में निजी स्वामित्व को अधिक स्वतंत्रता दी जाती है और राज्य के आर्थिक विकास के लिये उत्पादन के निजी स्वामित्व वाले स्वरुप को स्वीकार किया जाता है वहीं दूसरी ओर कुछ राज्य हैं जो आर्थिक नव–निर्माण और विकास कार्यक्रमों के लिये निजी स्वामित्व वाले स्वरुप पर कम ध्यान देकर नियोजित अर्थ–व्यवस्था अर्थात राज्य के व्यापक आर्थिक कार्यक्रमों एवं नियन्त्रण पर बल देते हैं।

भारत भी उन्हीं देशों में है जहां राज्य के कन्धों पर आर्थिक विकास की जिम्मेदारी डाली गयी। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान कांग्रेस के नेतृत्व में साम्राज्यविरोधी संघर्ष समाजवादी विचारों से काफी प्रभावित था इसीका परिणाम था कि स्वतंत्रता के पश्चात संविधान निर्मात्री सभा में राज्य के नीति–निदेशक तत्वों के अधीन भावी राज्य की आर्थिक उद्देश्यों की निशानदेही की गयी। जहां एक ओर संविधान ने निजी सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रुप में स्वीकार किया था वहीं र्सावजनिक हितों की पूर्ति के लिये राष्ट्रीयकरण का अवसर भी उपलब्ध कराया। देश के तीव्र और समग्र आर्थिक विकास के लिये राज्य नियन्त्रण में व्यापक योजनाएं चलाई गयीं।

24.7.1 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था

भारत में मिश्रित अर्थ–व्यवस्था को अपनाया गया है। मूलभूत उद्योग जैसे

रेलवे, डाक एवं तार, रक्षा उत्पादन, आणविक ऊर्जा सार्वजनिक क्षेत्र में है। भारत सरकार ने दिसम्बर 1954 में समाजवादी समाज की स्थापना का निश्चय किया। तीव्र आर्तिक विकास के लिये नियोजित विकास का मार्ग अपनाया गया। द्वितीय पंच वर्षीय योजना प्रलेख में भी कहा गया कि 'समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना के लिये यह अनिवार्य है कि आधारभूत एवं केन्द्रीय महत्व के सभी उद्योग एवं जन उपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में हों'। भारत में नियोजन के माध्यम से पंचवर्षीय योजनाओं की निर्माण हुआ जिस में राज्य की पूरी भागीदारी रही। आर्थिक समानता, अवसर की समानता, अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोज़गार तथा अविकसित क्षेत्रों का विकास प्राप्त करने का उद्देश्य था। धनी वर्ग से अधिक कर द्वारा प्राप्त आय को निर्धन वर्ग को सस्ती सेवायें – चिकित्सा, शिक्षा, सामातिक बीमा, सस्ते मकान आदि सेवायें – उपलब्ध कराने पर व्यय करने की योजना बनाई गई।

लेकिन इसी के साथ भारत में निजी सम्पत्ति के अधिकार को भी स्वीकार किया गया और निजी उद्योग स्थापित करने की अनुमति प्रदान की गयी। अर्थ–व्यवस्था के बहुत से क्षेत्र निजी उद्यमियों के लिये खुले रखे गये हैं। 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के माध्यम से सरकार को शस्त्र निर्माण, आणविक ऊर्जा एवं रेल यातायात में एकाधिकार प्रदान किया गया तथा खनिज पदार्थों, इस्पात, खनन, हवाई जहाज़ निर्माण, जहाज़रानी वग़ैरह में अनन्य अधिकार प्रदान किये गये। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के माध्यम से 17 प्रकार के उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में रखे गये। निजी क्षेत्र को वस्तुतः उपभोक्ता सामानों के उत्पादन तक सीमित कर दिया गया। व्यापार को नियन्त्रित करने के लिये क़ानून बनाये गये तथा वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये गये। इस प्रकार उद्यमिता पर सरकारी नौकरशाही का कड़ा पहरा बिठाया गया। धीरे–धीरे दो ही दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र के विशाल उद्योग, न्यूनतम उत्पादन, लम्बा खर्च तथा व्यापक अदक्षता के शिकार होने लगे। कृषि का सही तरह से विकास नही हो पाया जबकि भारत की दो तिहाई जनसंख्या कृषि एवं उस पर आधारित उद्योगों से जुड़ी हुयी है। 1980 तक भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था एवं राज्य की आलोचना की जाने लगी। मिश्रित अर्थ–व्यवस्था के निम्न दोष सामने आने लगे।

24.7.2 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था की कमियॉ

निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की मनोवैज्ञानिक डर ने निजी उद्योगों को पनपने से रोकने का काम किया। दूसरे सरकार की अनथक कोशिशों के बाद भी आर्थिक समानता की जगह पर विपरीत परिणाम आये। धनवान और धनी होते गये तथा निर्धन और निर्धन बने। कुछ बड़े उद्योगों में पूँजी एवं संसाधनों का केन्द्रण देखने को मिला।भ्रष्टाचार को व्यापक स्तर पर फलने–फूलने का अवसर मिला। लाइसेन्स–कोटा–परमिट राज (Licence, Quota, Permit Raj) के माध्यम से नौकरशाही ने निजी उद्योगों को परेशान करना एवं अपनी जेब भरना शुरु किया। कालाबाज़ारी बढ़ी एवं मुनाफा कमाने की होड़ में वस्तुओं की कृत्रिम कमी देखी गयी। विशालकाय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यामों मे अनुत्पादकता के साथ–साथ घाटे की अर्थ–व्यवस्था प्रारम्भ हुयी। समस्या यह हुयी कि इन उद्योगों का ख़र्चा, वेतन, भत्ते तथा रख रखाव एवं दीगर मामलों में बढ़ा तथा निजी उद्यम के विपरीत कुछ करने का साहस न होने के कारण तथा जवाब देयता के अभाव में राजस्व का एक बड़ा भाग घाटे में चला गया। आय की असमानता बढ़ी। दोनों प्रकार की अर्थ–व्यवस्था के मिश्रण के बावजूद निजी उद्यम में दक्षता थी। राज्य का नियन्त्रण होने के बावजूद भ्रष्टाचार पनपा और घूसख़ोरी ने निजी उद्यमियों को समय–समय

पर कालाबाज़ारी के माध्यम से तथा कम गुणवत्ता के उत्पादों के ज़रिये लाभ कमाने एवं जनता का शोषण करने का मौक़ा दिया। जहां भारतीय राज्य ने लोक कल्याणकारी, हितैषी एवं संरक्षक के रुप में कार्य करने की सोची वहीं राजनेताओं एवं अकर्मठ तथा बेईमान नौकरशाही ने पुनः जनता का शोषण करना शुरु कर दिया। विकास के नाम पर अल्प–विकास, कुपोषण, जीवन की बुनियादी सहूलतों से वंचितता ही भारतीय जनता का भाग्य बन हयी। विधि का शासन बुरी तरह प्रभावित हुआ तथा असामाजिक तत्व क़ानून की धज्जियां बिखेरने लग गये।

24.8 सारांश

राज्य की संस्था अमूर्त रुप में होते हुए भी पिछली चार शताब्दियों से अधिक काल में विभिन्न आर्थिक विचारधाराओं से सम्बद्ध रही। जैसे–जैसे समाज में बोध एवं चिंतन बढ़ा है राज्य को अलग–अलग तरह की आर्थिक नीतियां अपनाते हुए पाया गया। मार्क्सवादी विचारक इसी लिये राज्य को शोषण की संस्था मानते हैं। राज्य ने चाहे जो रुप भी धारण किया हो मिसाल के तौर पर आर्थिक राष्ट्रवाद से प्रेरित होकर वाणिज्यवाद आया उसमें भी श्रमजीवियों तथा मेहनतकशों एवं कमज़ोरों का शोषण हुआ। जब राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनतम करने की बात कही गयी तब भी कमज़ोर वर्गों का ही शोषण हुआ। तीसरी दुनिया के देशों ने जिन कारणों से भी आर्थिक सम्पन्नता एवं विकास के लिये जो प्रतिमान अपनाया उसका नतीजा उनको उनकी इच्छाओं के विरुद्ध ही मिला। असल बात तो यह है कि सही मायनों में राज्य ने समस्याओं को समझा ही नही और फिर राज्य पर किस वर्ग का अधिकार हुआ यह भी विश्लेषण करना ज़रुरी है। वास्तव में राज्य कभी भी आम जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सका। लोक कल्याण, लोकतंत्रीकरण तथा सत्ता में भागीदारी के नारे तो लगाये गये लेकिन मूल में कुछ अभिजात एवं विशिष्ट वर्गों का बचर्स्व ही रहा जिसने राज्य की समग्र भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगाये।

ऊपर के पृष्ठों में हमने विभिन्न आर्थिक नीतियों एवं प्रणालियों का अध्ययन किया एवं यह देखा कि राज्य का क्या प्रतिउत्तर एवं भूमिका रही।

24.9 उपयोगी पुस्तकें

Brezis, Elise S (2003), " Mercantilism", The Oxford Encyclopedia of Economic History, Oxford University Press.

Stilwell, Frank (2006), Political Economy : The Contest of Economic Ideas, 2nd ed., Oxford University Press.

Phillip, Anthoni O'Hara (ed.) (1999) "Welfare State", Encycoledia of Political Economy, Routledge.

ब्रेज़िस एलिस एस. (2003) ''मर्कैन्टीलिज़्म'' द ऑक्सफोर्ड इन्साइकलोपीडिया ऑफ इकोनॉमिक हिस्ट्री, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

स्टिलवेल फ्रैंक (2006) '' पोलिटिकल इकोनॉमी : द कान्टेस्ट ऑफ इकोनॉमिक आइडियाज़, द्वितीय संस्करण, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

फिलिप अन्थोनी ओ'हारा (सम्पादक) (1999)'' वेल्फेयर स्टेट'' इन्साइकलोपीडिया ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी, रुटलेज।

काश्यप, सुभाष, गुप्त, विश्वप्रकाश (2004)'' राजनीति कोश'', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण।

24.10 सम्बन्धित प्रश्न

लघु–उत्तरीय प्रश्न

(i) वाणिज्यवाद से आप क्या समझते हैं ?

(ii) कल्याणकारी राज्य के मुख्य लक्षण बताइये।

(iii) वर्ग–संघर्ष पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(i) मिश्रित अर्थ–व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए।

(ii) तृतीय विश्व की आर्थिक समस्याओं का विवेचन कीजिए।

(iii) भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था के अवगुण बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 वाणिज्यवाद का उदयकाल माना जाता है

(अ) 1600–1700 ई0

(ब) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के बीच

(स) 1500–1600 ई0

(द) औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात

2 'तृतीय विश्व' शब्द का प्रयोग किसने किया ?

(अ) टी0डब्ल्यू0 केन्ट

(ब) हॉबमैन

(स) एडम स्मिथ

(द) अल्फ्रेड सॉवी

3 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' किस नीति को प्रोत्साहित करती है ?

(अ) कल्याणकारी राज्य

(ब) अहस्तक्षेप की नीति

(स) अतिरिक्त मूल्य

(द) विकास और तृतीय विश्व

24.11 प्रश्नोत्तर

1 (अ) 2 (द) 3 (ब)

इकाई 25

राज्य और सामाजिक प्रक्रियाएं

इकाई की रुपरेखा

25.0 उद्‌देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 धर्मनिरपेक्षता

25.2.1 धर्मनिरपेक्षता का अर्थ

25.2.2 भारत में समान सिविल संहिता

25.2.3 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

25.2.4 समस्याएं

25.3 अल्पसंख्यकों के अधिकार

25.3.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

25.3.2 समस्याएं

25.4 आरक्षण और उस से सम्बन्धित मुद्दे

25.4.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

25.4.2 समस्याएं

25.5 सामाजिक विषमताएॅं और योग्यता का मापदण्ड

25.5.1 संदर्भ में भारतीय सामाजिक विषमताएं

25.6 सारांश

25.7 उपयोगी पुस्तकें

25.8 सम्बन्धित प्रश्न

25.9 प्रश्नोत्तर

25.0 उद्देश्य

जैसे जैसे लोकतंत्र और राजनीतिक चेतना का विकास होता है लोगों में अपनी पहचान की राजनीति का स्वर मुखरित होता है। राज्य ऐसी स्थिति में एक मध्यस्थ की भूमिका में दिखाई देता है जिसका यह कार्य होजाता है कि वह परस्पर विरोधी गुटों के बीच किस प्रकार सामंजस्य बिठाऐ जिस से कि सामाजिक समरसता, राष्ट्र् की एकता तथा विभिन्न सामाजिक वर्गों, धार्मिक समूहों, जाति संगठनों एवं आर्थिक समुदायों के बीच ताल–मेल बना रहे। इस प्रकार राज्य तटस्थ नही रहसकता फिर भी राज्य को न्यायपूर्ण बुनियादों पर विधि के शासन का

पालन करते हुए सक्रिय भूमिका का निर्वहन करना पड़ता है। आगे पाठयांश में आप भलि भांति इन कथनों को देखेंगे तथा इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप को राज्य की भूमिका का पता चल सकेगा जो वह सामाजिक कार्यों के लिये करता है तथा आप यह जान सकेंगे कि किस प्रकार राज्य की सामाजिक आर्थिक नीतियों में परिवर्तन होता है।

25.1 प्रस्तावना

राज्य की संस्था ने व्यक्ति एवं समाज को विभिन्न रुपों से प्रभावित किया है तथा आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियो में एक प्रमुख अभिकर्ता की भूमिका निभाई है। इसी क्रम में स्वयं राज्य का प्रारुप भी बदला है। कभी राज्य ने केवल विधि एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी ली तो कभी आम जनता के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाया। कभी राज्य को पूँजीपति वर्गों, व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के हित साधक के रुप में देखा गया तो कभी साम्यवादी चिंतन से प्रभावित होकर इसे जनता के आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली एक एजेन्सी के रुप में देखा गया। बीसवीं शताब्दी का अन्त होते होते राज्य को प्रस्पर लड़ते हुए अभिकर्ताओं के मध्य सामन्जस्य स्थापित करते हुए भी देखा गया है वर्तमान अध्ययन में हम इन सब बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे तथा भारत के सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता, समान नागरिक संहिता, अल्पसंख्यको के अधिकार तथा सामाजिक न्याय के क्षेत्र में समाज के कमजोर एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए किस प्रकार राज्य पर दबाव पड़ता है आदि बिंदुओं पर चर्चा करेंगे।

25.2 धर्मनिरपेक्षता

कुछ लोगों का मानना है कि धर्मनिरपेक्षता की धारणा धर्म विरोध को प्रकट करती है। चूँकि योरोपियन पुनर्जागरण से कुछ पहले तक योरोप में चर्च एवं राज्य के बीच बर्चस्व को लेकर संघर्ष चला है जो बाद की शताब्दियों में भी जारी रहा। प्रबुद्धवादी युग में चर्च (जो पहले जनमानस के मस्तिष्क पर छाया हुआ था) अधिक से अधिक समाज की एक उपयोगी संस्था रह गया था। कुछ उग्रवादी विचारकों के लिये चर्च बर्बरता का अवशेष था क्योंकि विज्ञान एवं तक्र पर आधारित विचारों से पहले युरोप में चर्च के द्वारा स्थापित धार्मिक न्यायालयों ने बहुत आतंक फैला रखा था तथा स्वतंत्र विचारों एवं मानव प्रगति के लिये नये आविषकारों के लिये धार्मिक संकीर्णता ने बहुत कम स्थान छोड़ा था। बौद्धिक नेताओं ने सारे चर्च को दर किनार कर दिया। पुराने ईसाई विचार आवश्यक नहीं रह गये। चिंतकों ने विश्व इतिहास, समाज, मानव नियति और अच्छे एवं बुरे स्वरुप के बारे में ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत किये जिस में ईसाई व्याख्यानों की कोई भूमिका नहीं थी। युरोप में आये पुनर्जागरण के विशेष आलोक में धर्म–निरपेक्षता का सम्बन्ध धर्म से बिलकुल अलग मानवीय सम्बन्धों के आधार पर देखा जा सकता है। यहां यह विचार प्रबल है कि इस दुनिया के मामले ख़ास तौर से राजनीतिक, धर्म से नहीं हल किये जासकते। धर्म को एक वैयक्तिक मामला माना जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता लेकिन राज्य की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के हल के लिये धर्म का सहारा भी नहीं लेता। आसान शब्दों में धर्मनिरपेक्षता राज्य की संस्थाओं एवं राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों तथा धार्मिक संगठनों के मध्य पृथककरण का नियम है। दूसरे अर्थों में मानवीय कृत्य एवं निर्णय विशेषकर राजनीतिक धार्मिक प्रभावों से अलग होने चाहिये।

25.2.1 धर्मनिरपेक्षता का अर्थ

आधुनिक पाश्चात्य धर्म–निरपेक्षता धार्मिक युद्धों (प्रायः विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के बीच) से बचाव की खोज का तथा राज्य और चर्च के अधिकार क्षेत्रों को अलग–अलग करने की आवश्यक्ता का परिणाम थी। आधुनिक लोकतांत्रिक राष्ट्र राज्य अब अपने क्षेत्र में निवास करने वाली जनता से धर्म, जाति, प्रजाति के आधार पर नही अपितु एक नागरिक के रुप में व्यवहार करते हैं। नागरिक की पहचान अन्य सभी पहचानों जैसे परिवार, प्रजाति, वर्ग एवं धर्म से ऊपर है।

'धर्मनिरपेक्षता' शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जार्ज जैकब हाल्योक (George Jacob Halyoke) द्वारा गढ़ा गया जो लैटिन शब्द सैक्यूलम (Seculum) पर आधारित था। राज्य से चर्च के अलगाव को इंगित करने के अलावा यह वैयक्तिक स्वतंत्रता का भी सुझााव देता है। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार ''धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ग़ैर–आध्यातिमक, धर्म अथवा आध्यात्मिक मामलों से कोई सम्बन्ध न होना, कोई वस्तु जो धर्म से भिन्न हो, उसके विरुद्ध अथवा उस से सम्बन्धित न हो अथवा धार्मिक वस्तुओं से सम्बन्धित न हो और आध्यात्मिक तथा धार्मिक वस्तुओं के विपरीत सांसारिक हो।'' ''ए न्यू इन्गिलिश डिक्शनरी'' के अनुसार धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म से सम्बन्धों का न होना है।

अतः यह स्पष्ट होता है कि धर्म–निरपेक्षता एक ऐसी व्यवस्था है जहां राजनीतिक मामलों में राज्य व्यक्ति के साथ नागरिक के रुप में व्यवहार करता है तथा व्यक्ति को किसी भी धर्म को मानने का अधिकार होता है। धर्मनिरपेक्षता धर्म के आधार पर भेद–भाव के विरुद्ध है। वह प्रत्येक व्यक्ति को नागरिक के रुप में देखती है तथा धर्मनिरपेक्षता राज्य को कोई विशेष धर्म अपनाने से रोकती है। डी0 ई0 स्मिथ के अनुसार ''धर्मनिरपेक्ष राज्य ऐसा राज्य होता है जो व्यक्तिगत और सामूहिक रुप से धार्मिक स्वतंत्रता की गारन्टी देता है, व्यक्ति के साथ उसके धर्म का ध्यान किये बिना, एक नागरिक के रुप में व्यवहार करता है और जो सांविधानिक रुप से किसी धर्म विशेष से न तो सम्बन्धित होता है न ही वह किसी धर्म को बढ़ावा देता अथवा उसमें हस्तक्षेप करता है।'' इस परिभाषा से तीन बिन्दुओं का संकेत मिलता है –

(1) धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है

(2) धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक आधार पर कोई भेद–भाव नही करता तथा

(3) धर्मनिरपेक्ष राज्य में राज्य का अपना कोई धर्म नही होता।

बिपिन चन्द्रा के अनुसार भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता के अर्थ पर गरमा गरम बहस होती रही है। कुछ का कहना है कि पश्चिम में, जहां से यह शब्द लिया गया , असका मतलब काफी भिन्न है। पश्चिम में चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष के फलस्वरुप दोनों अलग हो गये। चर्च को धार्मिक मामले तय करने का अधिकार मिला, जबकि राज्य ग़ैर–धार्मिक मामले तय करने लगा। भारत में धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिक ताकतों के ख़िलाफ राष्ट्रवादी ताकतों के संघर्ष के संदर्भ में विकसित हुई। ये साम्प्रदायिक ताकतें धर्म का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिये करना चाहती थीं, और इस प्रकार उभरते राष्ट्र को धर्म के आधार पर विभाजित करना चाहती थीं। नेहरु के अनुसार भारत में इसका अर्थ धर्म के प्रति उदासीनता नही। इसका मतलब धर्म और आस्था की आज़ादी को बढ़ावा देना है। इसका मतलब है सभी धर्मों को पूरी आज़ादी, बस शर्त यह है कि वे एक दूसरे के मामलों और हमारे राज्य की मूल मान्यताओं में हसतक्षेप न करें।

डा0 एस. राधाकृष्णन का धर्मनिरपेक्षता के भारतीय संदर्भ में विचार था कि 'किसी भी धर्म को प्राथमिकता नही दी जानी चाहिये' और यह कि' .....ऐसी धर्मनिरपेक्षता भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुकूल' थी। इसी प्रकार भारत की ख़ास परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए पं. जवाहरलाल नेहरु ने धर्मनिरपेक्षता को दोहरे अर्थों में परिभाषित किया जैसे – राज्य, राजनीति और शिक्षा को धर्म से अलग रखना तथा धर्म को व्यक्ति का निजी मामला बनाना एवं दूसरी तरफ सभी धर्मों के लिये समान आदर भाव दिखाना और उनके अनुयायियों को समान अवसर उपलब्ध कराना।

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता/पंथनिरपेक्षता

संविधान के 58वें संशोधन (दिसम्बर 1987) के माध्यम से भारत के संविधान का अधिकारिक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसमें प्रस्तावना में 42वें संशोधन, 1976 के माध्यम से सेकुलर शब्द का अनुवाद पंथनिरपेक्ष किया गया है। पंथनिरपेक्षता एवं धर्मनिरपेक्षता में तकनीकी एवं भाव का अन्तर बताया जाता है तथापि सुविख्यात संविधान विद्वान डा0 सुभाष काश्यप ने दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रकाशित राजनीति शब्दकोश में Secularism/Secular State के लिये धर्मनिरपेक्ष/धर्मनिरपेक्ष राज्य शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार सुविख्यात इतिहासकार बिपिन चन्द्र ने भी अपनी सम्पादित पुस्तक 'आजादी के बाद भारत 1947–2000' में धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया है। न्यायालयों के विनिश्चयों से भारत में सेकुलर राज्य के लक्षणों का ज्ञान होता है जिसका अनुवाद विभिन्न लेखक धर्मनिरपेक्ष एवं पंथनिरपेक्ष दोनों शब्दों से करते हैं।

दोनों अवधारणाओं में अन्तर इतना है कि पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्था में चर्च एवं राज्य के संघर्ष के कारण धर्मनिरपेक्षता का जन्म हुआ। जबकि भारत में बहु धार्मिक सामाजिक संरचना में राज्य का कोई धर्म नही परन्तु भारत में राज्य सभी धर्मों/धार्मिक पंथों का आदर करता है एवं समान संरक्षण प्रदान करता है।

25.2.2 भारत में समान सिविल संहिता

संविधान निर्मात्री सभा में समान सिविल संहिता बनाने एवं लागू किये जाने के विषय में हमेशा वाद–विवाद रहा। कुछ सदस्य जहां इसका समर्थन कर रहे थे कि सभी नागरिकों के लिये एक समान सिविल कानून बनाना चाहिये वहीं बहुत से सदस्य इस विचार के थे कि जब तक विभिन्न समुदाय स्वयं से तैयार न हो जायें उनके लिये राज्य के द्वारा एक समान सिविल संहिता नहीं बनाई जानी चाहिये। इसी लिए अनुच्छेद 44 के माध्यम से इसे राज्य के नीति–निदेशक तत्वों के अन्तर्गत रखा गया जिसका अभिप्राय यह है कि राज्य भारत में सभी नागरिकों के लिये एक समान सिविल संहिता तैयार करेगा।

मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत भाग 3 के अनुच्छेद 14 में यह उपबन्ध है कि राज्य भारतीय संघ के अन्दर रहने वाले किसी भी नागरिक के साथ जाति, मूल वंश, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर कोई भेद–भाव नही करेगा परन्तु भारत सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से इतना विभिन्नताओं से युक्त है कि हर अलग–अलग धर्म और जाति के लोग एक समान सिविल संहिता को मानने के लिये तैयार नही है। वह संविधान लागू होने के पूर्व जो अपनी अपनी अलग–अलग संहिता अपनाये हुए थे आज भी अपनी उसी संहिता को मानते हैं।

समान नागरिक संहिता को लागू करने के लिये जो लोग आवाज़ उठाते हैं उनका यह मानना है कि किसी देश में नागरिक–नागरिक के बीच में भेद करना ठीक नही है। जिस प्रकार सम्पूर्ण दण्ड की एक समान व्यवस्था के लिये भारतीय दण्ड संहिता का निर्माण किया गया उसी प्रकार एक समान सिविल संहिता का निर्माण होना चाहिये।

भारत में विशेषकर मुस्लिम और ईसाई धर्मावलम्बी समान नागरिक संहिता का विरोध करते हैं। इनका मानना है कि इस प्रकार के विधायन के माध्यम से उनके धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप होगा। मुस्लिम नेतृत्व तथा जन मानस का यह विचार है कि इसे अनिवार्य रुप से लागू नही किया जाना चाहिये।

1995 में सरला मुदगल बनाम भारत संघ के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने भारत सरकार से एक समान नागरिक संहिता बनाने का आग्रह किया। परन्तु सन् 2000 ई0 में स्वयं उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि इसने कभी भारत सरकार को समान नागरिक संहिता का संहिताकरण करने का आदेश नही दिया। 2003 में न्यायालय ने पुनः भारत सरकार को समान नागरिक संहिता न लागू करने के लिये दोषी ठहराया तो फिर 2008 में उच्चतम न्यायालय ने एक सार्वजनिक हित याचिका को स्वीकार करने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि हमें संसद या प्रधानमंत्री को एक समान नागरिक संहिता के लिए आदेश देने का कोई अधिकार नही है। आश्चर्य की बात है कि भारतीय जनता पार्टी ने केन्द्र में अपने शासन काल 1998–2004 के मध्य समान नागरिक संहिता का निर्माण करने का कोई प्रयास नही किया।

25.2.3 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 44 यह अपेक्षा करता है कि राज्य भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिये एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जहां भारत में बहुत से नागरिक समूहों, सामाजिक संगठनों एवं राजनीतिक दलों ने रह–रह का इसकी मांग की है वहीं भारत सरकार ने अपने वक्तव्यों तथा प्रस्तावों में अलग–अलग समयों में अपने संकल्प को दोहराया है। न्यायालयों ने भी भारत सरकार को इस दिशा में क़दम आगे बढ़ाने की सलाह दी है। फिर भी चूंकि भारत विविधताओं का देश है इस लिये बलपूर्वक सिविल मामलों में सब पर समान नियम लागू करने से सरकारें कतराती रही हैं। अनुच्छेद 371क तथा 371छ के अनुसार क्रमशः नागालैण्ड एवं मिज़ोरम राज्यों पर भारतीय संसद द्वारा पारित कोई कानून नागा तथा मिज़ो सामाजिक तथा धार्मिक आचरण, परम्परागत विधि एवं प्रक्रिया तथा सिविल एवं अपराधिक कानूनों पर बिना उपरोक्त राज्य विधान सभाओं की पूर्व अनुमति के लागू नही होसकता। ज्ञातव्य हो कि यह दोनों राज्य भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र के अनुसूचित जनजाति बाहुल्य राज्य हैं तथा अब इन राज्यों की बडी जनसंख्या (नागालैण्ड 90% तथा मिज़ोरम 87%) ईसाई धर्म भी स्वीकार कर चुकी है। संविधान ने अनुच्छेद 44 के माध्यम से जहां समान सिविल संहिता की बात कही है वहीं अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता भी प्रदान की है। समान सिविल संहिता का सब से कड़ा विरोध मुस्लिम एवं ईसाई समूहों के द्वारा किया जाता है। मुस्लिम समूहों का यह मानना है कि समान सिविल संहिता की आड़ में सरकार उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करेगी। मुस्लिम समूहों का यह भी मानना है कि उनकी शरीअत विधि में दोष नहीं है अपितु उसका सही तरह से मुस्लिम जनसंख्या क्रियानवयन नही कर रही है। इस सम्बंध में भारतीय दण्ड संहिता 1973

की धारा संख्या 125 को समान रुप से जब उच्चतम न्यायालय ने 1985 में प्रसिद्व शाह बानो मुकदमे में सभी भारतीय नागरिकों में समान रुप से लागू किया तो मुस्लिम जनता ने इसका कड़ा विरोध किया । आल इन्डिया मुस्लिम पर्स्नल लॉ बोर्ड एवं अन्य संगठनों ने तत्कानील राजीव गॉधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार पर भारी दबाव बनाया जिसके कारण भारतीय संसद ने 1986 में मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण अधिनियम पारित किया जिसके माध्यम से धारा संख्या 125 के प्रभाव से मुसलमानों को छूट मिली। इस धारा में यह व्यवस्था है कि कोई पति अपनी पत्नी को आजीवन या विवाह विच्छेद के बाद पूर्व पत्नी के दूसरे विवाह होने तक गुज़ारा भत्ता का जिम्मेदार होगा। मुस्लिम विधि में पति के ऊपर विवाह विच्छेद के बाद केवल 3 महीना 10 दिन (इद्दत अवधि) तक के गुज़ारा भत्ते की जिम्मेदारी है। आजीवन अथवा पत्नी के दूसरे विवाह तक की जिम्मेदारी उसके पूर्व पति पर न होकर महिला के माता पिता, भाई बहन अथवा निकटतम संबधियों पर है। 1986 के अधिनियम के माध्यम से संसद ने विधि बनाकर सगे सम्बन्धियों की आर्थिक अक्षमता के कारण राज्य वक़्फ बोर्ड को गुज़ारा भत्ते की ज़िम्मेदारी दी है। दानियाल लतीफी बनाम भारत संघ के मुकदमे में उच्चतम न्यायालय ने 1986 के मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण कानून को संवैधानिक बताते हुए इसी कानून के अनुसार मुस्लिम तलाकशुदा महिला को इद्दत अवधि के गुज़ारा खर्चे के साथ–साथ एकमुश्त एक अच्छी रकम देने का आदेश दिया है जिससे वह अपना जीवन सुचारु रुप से चला सके।

25.2.4 समस्याएं

समान नागरिक संहिता के लिये फिर भी रह–रह कर सरकार से आग्रह किया जाता है कि वह भारत संघ में रहने वाले सभी नागरिकों के लिये समान विधि बनाये । परन्तु हिन्दू कोड बिल के पारित होने के बाद भी सारे देश में विवाह, विवाह विच्छेद, उत्तराधिकर इत्यादि के विषय में राज्यों में अलग अलग कानून हैं क्योंकि यह विषय समवर्ती सूचि में हैं जिस पर केन्द्र तथा राज्य विधान मण्डलों को कानून बनाने का अधिकार है। खुद हिन्दू विवाह अधिनियम के पारित होने के बाद भी राज्यों में विवाह विच्छेद से सम्बन्धित अलग–अलग नियम हैं। समान नागरिक संहिता के कारण यह कहा जाता है कि भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में सहायता मिलेगी। लेकिन ऐतिहासिक साक्ष्य इसके विरुद्ध बोलते हैं उदाहरण के लिए प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन तथा जर्मनी सहधर्मी एवं समान नागरिक कानूनों के होते हुए भी आपस में टकरागये। इसी प्रकार पश्चिमी तथा पूर्वी पाकिस्तान समान धर्म एवं समान कानून के होते हुए भी पृथक राष्ट्र बन गये। तथा नागरिकों के लिये अलग अलग कानून उचित नही है। यह भी कहा जाता है कि हिन्दू कोड बिल के प्रावधानों से बचने के लिये लोग धर्मांतरण कर दूसरा विवाह कर लेते हैं। उच्चतम न्यायालय ने अपने एक निर्णय में यह कहा है कि हिन्दू विवाह अधिनियम के अधीन किया गया विवाह धर्मांतरण से समाप्त नही होता तथा दूसरी महिला के साथ विवाह स्थापित नही होगा। एक से अधिक पत्नियों से विवाह के जो आंकड़े उपलब्ध हैं उसके अनूसार अनुसूचित जनजातियों में 15.25%, बौद्ध धर्म वालों में 7. 9% , हिन्दुओं में 5.8% तथा मुसलमानों में 5.7% द्विपत्नी विवाह वाले हैं। हिन्दु एवं मुसलमानों के बीच प्रतिशत का मामूली अन्तर वास्तविक संख्या में बहुत अधिक है। उच्चतम न्यायालय ने एक अन्य निर्णय के माध्यम से एक पत्नी के होते हुए बिना विवाह के साथ रहने एवं शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्थिति में ऐसी महिला को भी पत्नी के समान मानते हुए सारे अधिकार देने को कहा है। दूसरी ओर जहां समान नागरिक संहिता के लिये कहा जाता है वहीं सिख सम्प्रदाय के

द्वारा अपने लिये अलग वैयक्तिक विधि की भारत सरकार से मांग की गयी है। नागरिकों के वैयक्कि जीवन में राज्य के द्वारा विधियों के माध्यम से हस्तक्षेप किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समान नागरिक संहिता का राजनीतिकरण होगया है। तथा समय–समय पर कुछ समूहों के द्वारा इसकी मांग करने से अल्पसंख्यक समुदायों में राज्य के प्रति संदेह एवं भय की भावना पैदा होती है तथा उन्हें अपनी पहचान के लुप्त होने का संकट सताता है।

25.3 अल्पसंख्यकों के अधिकार

लोकतंत्रीय व्यवस्था में नागरिकों को जहां बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं वहीं इस बात का भी डर रहता है कि चूँकि इस व्यवस्था में निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाते हैं इस लिए अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का भी उपाय होना चाहिये।

हर देश में जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को ध्यान में रख कर यह पता चल जाता है कि कौन सा समूह अपनी संस्कृति, धर्म, भाषा, प्रजाति आदि के आधार पर बहुसंख्यक वर्ग से संख्या में कम है। जो अपनी पहचान बनाये रखना चाहता है तथा अपने अधिकारों का संरक्षण चाहता है। लोकतंत्र की कठिन समस्याओं में से एक समस्या अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने की है। व्यवहार में लोकतंत्र का अभिप्राय बहुमत का शासन है। साथ ही अल्पसंख्यकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने हितों की रक्षा कर सकें। अपना विपरीत मत व्यक्त कर सकें तथा सरकार का विरोध कर सकें। लोकतंत्र बहुमत का शासन भले ही हो पर वह केवल बहुमत के लिये नही, अपितु सब के लिये है। इसलिए विश्व के विभिन्न देशों में अल्पसंख्यको के अधिकारों की व्यवस्था की जाती है।

25.3.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

भारत के संविधान निर्माण के समय अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर विशेष विचार किया गया और संविधान में कुछ विशेष प्रावधान किये गये किन्तु संविधान में अल्पसंख्यकों की कोई परिभाषा नही दी गयी। सम्पूर्ण संविधान में अनुच्छेद 29 और 30 में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग किया गया है। सर्वप्रथम 1957 में 'केरल एजुकेशन बिल' के सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अल्पसंख्यक से क्या अभिप्राय है। सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि कोई भी समूह जिसकी संख्या 50 प्रतिशत से कम हो वह अल्पसंख्यक वर्ग में आता है।इस से सम्बन्धित दूसरा प्रश्न यह था कि 50 प्रतिशत का क्या अर्थ है यह प्रतिशत देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का होना चाहिए अथवा किसी राज्य विशेष की जनसंख्या का। न्यायलय के निर्णयके अनुसार एक राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या के आधार पर निर्धारित होना चाहिये। इसी से यह स्पष्ट होता है कि संघीय विधि के सम्बंध में अल्पसंख्यक शब्द का निर्धारण देश की कुल जनसंख्या के संदर्भ में किया जाएगा। संसार के अधिकांश देशों की तरह भारत में भी संविधान ने धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों के दो समूहों का वर्णन किया है। धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों में वर्तमान में मुसलमान,ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, पारसी एवं जैन आते हैं जबकि भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के अन्तर्गत भारत के किसी राज्य में निवास करने वाले वह समूह हैं जिनकी भाषा उस राज्य में प्रयुक्त भाषा की तुलना में कम प्रयोग की जाती है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में

बांग्ला भाषा भाषी यद्यपि वह धार्मिक रुप से हिन्दु हो अर्थात बहुसंख्यक समाज का अंग हो फिर भी वह भाषायी अल्पसंख्यक होगा।

संविधान अल्पसंख्कों को भी अनुच्छेद 25 के माध्यम से धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत व्यक्ति को दो प्रकार के अधिकार प्राप्त है। (1) अन्तःकरण की स्वतंत्रता एवं (2) धर्म को अबाध ;मानने', 'आचरण' और 'प्रचार' करने की स्वतंत्रता। अनुच्छेद 26 धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी वर्ग को (i) धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण का (ii) अपने धामिैक सम्बन्धी विषयों का प्रबंध करने का अधिकार प्रदान करता है। ज्ञातव्य हो कि यह अधिकार भारत के सभी व्यक्तियों को/उनके समूहों को प्राप्त है।

इसी प्रकार अनुच्छेद 27 के अनुसार किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिये कर न देने की स्वतंत्रता है। अनुच्छेद 27 किसी एक धर्म का दूसरे धर्म से अधिक बढ़ावा देने को वर्जित करता है। अनुच्छेद 28 राज्य पोषित शिक्षण–संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या उपासना का प्रतिषेध करता है।

अनुच्छेद 29 भारत क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों के किसी भी वर्ग को जिनकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार प्रदान करता है। इस अनुच्छेद का उद्देश्य अल्पसंख्कों के हितों का संरक्षण करना है। ऐसा वे अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को अपनी रुचि की संस्थाओं को स्थापित करके ही सुरक्षित रख सकते हैं। अनुच्छेद 30 के अनुसार अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि के अनुसार शिक्षण संस्थाओं को स्थापित करने और उन पर प्रशासन करने का अधिकार है। इसी अनुच्छेद में राज्य को आदेशित किया गया है कि राज्य शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या संस्कृति पर आधारित किसी अल्पसंख्यक के प्रबन्ध में है।

भाषायी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिये अनुच्छेद 350 (ख) के माध्यम से एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी है, जिसका मुख्य कार्य भाषायी अल्पसंख्यकों को संविधान द्वारा दिये गये संरक्षणों के कार्यान्वयन आदि के सम्बन्ध में जांच करना है।

1992 में केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की तथा 2005 में एक अधिनियम के माध्यम से अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थाओं के लिए राष्ट्रीय आयोग (National Commission for Minority Educational Instituions/ NCMEI) का गठन किया गया। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (1993) एक संस्था के रुप में भारत सरकार एवं राज्यों की सरकारों के द्वारा व्यक्तियों के मानवाधिकारों के उल्लंघन के सम्बन्ध में न्याय निष्पादन का काम करता है।

25.3.2 समस्याएं

भारत में संवैधानिक सुरक्षा प्रदान किये जाने के बावजूद कार्यान्वयन स्तर पर नकारात्मक दृष्टिकोण के चलते ऊपर दिये गये अधिकारों का सही प्रयोग नहीं हो पाता।अल्पसंख्यकों में मुसलमानों की समस्या राजनीतिक स्वरुप लेलेती है। किसी सरकार के द्वारा उनके कल्याण के लिये किया जाने वाला कार्य जहां वोट बैंक राजनीति का अंग बनता है वहीं साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का प्रयोग करने वाले राजनीतिक दलों/समूहों के द्वारा इसे अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की संज्ञा दी जाने लगती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद से इस वर्ग की देशभक्ति पर प्रश्नचिंह लगता रहा है। देश के विभाजन का इनको प्रत्यक्ष जिम्मेदार मान लिया गया और

इस प्रकार यह समझा जाने लगा कि यह पाकिस्तान के समर्थक हैं तथा राष्ट्रविरोधी है। देश में हिन्दु–मुस्लिम सौहार्द के स्थान पर साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ सी आ गयी जो अभी तक जारी है। प्रत्येक वर्ष सैंकड़ों की संख्या में साम्प्रदायिक दंगे होते है जिसे सरकारें नियंत्रण करने में असफल हो जाती हैं।

भारत में ईसाइयों के साथ भी बहुसंख्यक हिन्दुओं का टकराव बढ़ता हुआ दिखायी दे रहा है। हालांकि थोड़े ही लोग वातावरण को प्रदूषित करते हैं। भारत की सदियों से समन्वित संस्कृति इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है। स्वतंत्रता के बाद 2–3 दहाइयों तक अधिकांश क्षेत्रों में हिन्दु–ईसाई सम्बन्धों में शान्ति दिखाई दी लेकिन 1980 के पश्चात गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में ईसाई धार्मिक स्थलों, स्कूलों एवं अस्पतालों के विरुद्ध तोड़–फोड़ की घटनाओं में वृद्धि हुयी है। धर्मान्तरण को मुद्दा बना कर उग्र संस्थाओं ने अल्प संख्यक ईसाइयों के समक्ष भी मुसलमानों की तरह सुरक्षा की समस्या खड़ी करदी है।

जनवरी 1999 में उड़ीसा में आस्ट्रेलियाई मिशनरी डाक्टर ग्राहम स्टैन्स एवं उसके दो पुत्रों को जिन्दा जला दिया गया और यह कहा गया कि यह ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं के धर्मान्तरण के विरुद्ध वैध क्रोध की अभिव्यक्ति है। मुसलमानों एवं ईसाई अल्पसंख्यकों को समय–2 पर धमकी तथा परामर्श भी दिया जाता है किवह अपने को हिन्दू समझें तथा मुसलमान मक्का/मदीना तथा ईसाई वैटिकन से अपना सम्बन्ध तोड़ लें अन्यथा बहुसंख्यक हिन्दुओं के अधीन होकर रहें जबकि संविधान भारत के सभी नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान करता है।

धर्मनिरपेक्ष संविधान के बाद भी राज्य का भेदभावपूर्ण व्यवहार भारत में साम्प्रदायिक दंगों में उभरकार सामने आता रहा है। गृह मंत्रालय के वार्षिक प्रतिवेदनों एवं मानवाधिकार पर काम करने वाले संगठनो के अध्यनों से भलिभांति यह तथ्य उजागर होता है कि शान्तिव्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदार संस्थाओं ने साम्प्रदायिक दंगों में अपने पक्षपातपूर्ण व्यवहार से समस्या को और भी बढ़ाया है।

भारत में धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों में 2001 की जनगणना के अनुसार मुसलमान 13.4 प्रतिशत हैं। जम्मू कश्मीर की कुल आबादी में 67 प्रतिशत, उ0प्र0 में 18.5 प्रतिशत, बिहार में 16.5, असम में 30.9, प0 बंगाल में 25.2 तथा केरल में 24.7 प्रतिशत मुसलमान रहते हैं। ईसाई उसी जनगणना के आंकड़ों के अनुसार पूरे भारत में 2.3 प्रतिशत हैं जिसमें नागालैण्ड में 90, मिज़ोरम में 87, मेघालय 71 तथा केरल में 19 प्रतिशत निवास करते हैं। सिक्ख 2001 की जनसंख्या के अनुसार 1.9 प्रतिशत हैं और पंजाब में इनकी जनसंख्या लगभग 60 प्रतिशत है। सिक्ख विरोधी दंगों के बाद से हिन्दु–सिक्ख सम्बन्धों में गिरावट आयी है। बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या कुल जनसंख्या का 0.8 प्रतिशत है। सिक्किम राज्य में 28, अरुणाचल प्रदेश में 13 तथा महाराष्ट्र में 6 प्रतिशत निवास करते हैं। जैन जिनको अभी हाल में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक का दर्जा मिला है, 2001 के आंकड़ों के अनुसार 0.4 प्रतिशत हैं जबकि पारसी 0.6 प्रतिशत हैं। 1951 की जनगणना में पारसियों की जनसंख्या 115333 थी जो अब घटकर 2001 में 89601 रहगयी है। भारत सरकार एवं पारसी संगठनों ने जनसंख्यावृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत से कार्यक्रम चला रखे हैं।

राजनीतिक स्तर पर जहां ईसाइयों को प्रतिनिधित्व की कमी की कोई शिकायत नही है वहीं मुस्लिम अल्पसंख्यक वर्ग को राजनीतिक प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों में प्रवेश, क्षिक्षण संस्थाओं में प्रवेश एवं सामाजिक तथा आर्थिक

क्षेत्रों में हाशिये पर चले जाने की स्थिति की शिकायत है। भारत में बसने वाले अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों अर्थात सिक्ख, बौद्ध, पारसी तथा जैन धर्मावलम्बियों की अलग समस्यायें हैं। ख़ालिस्तान की मांग के कारण सिक्खों को शक की निगााह से देखा जाने लगा था। परन्तु इसी समस्या ने सिक्खेंा को पहचान की राजनीति पर उभारा जबकि बहुत दिनों तक उन्हें हिन्दु धर्म के एक पंथ के रुप में जाना जाता था।

25.4 आरक्षण और उससे सम्बन्धित मुद्दे

'आरक्षण' शब्द का अर्थ है सुरक्षा प्रदान करना। वर्तमान सन्दर्भ में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से कुछ जातिविशेष को शिक्षा एवं सरकारी सेवाओं में सुविधाएं प्रदान करना आरक्षण है। समानता और लोकतंत्र विश्व के अनेक देशों में लाया गया है परन्तु लोकतंत्र ने सभी वर्गों को समानता प्रदान कर दी हो ऐसा नही है। प्रतियोगिता तथा योग्यता के आधार पर राजकीय सेवाओं एवं कल्याण प्रशासन का लाभ उठाने में यह पाया गया कि पहले से सम्पन्न एवं समृद्ध वर्गों ने सरकारी सेवाओं तथा योजनाओं का ज्यादा लाभ उठाया है। इसके सामाजिक कारण भी रहे हैं जैसे पहले से लाभ उठारहे समूहों/वर्गों द्वारा अपने ही वर्ग/समूह/जाति को लाभान्वित करने का प्रयास वंचितता को जन्म देता है और संविधान के पवित्र सिद्धान्तों को व्यवहारिक रुप से लागू करने में अवरोध खड़ा करता है इसलिए सामाजिक न्याय का तकाजा है कि वंचित वर्गों के उत्थान के लिये कुछ सकारात्मक कदम उठाये जायें एवं विशेष अधिकार प्रदान करके वंचित,शोषित समूहों को प्रतियोगिता की दौड़ में आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया जाये। इस सन्दर्भ में विश्व के कुछ देशों में सकारात्मक भेदभाव/सकारात्मक कार्यवाही तथा कुछ देशों में समाज के कमजोर वर्गों के लिये कोटा व्यवस्था लागू की गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में श्वेत और काले लोगों के मध्य बढ़ते हुए तनाव एवं सरकारी नौकरियों, शिक्षण संस्थाओं तथा अन्य औद्योगिक कार्यों में काले अफ्रो–अमेरिकन लोगों का वंचितता तथा उनके प्रति श्वेत नस्ल के द्वारा भेदभाव ने अमेरीकी राजनीतिक व्यवस्था को उनके अधिकारों की रक्षा के लिये सकारात्मक कार्यवाही हेतु प्रेरित किया तथा 60 के दशक में इस प्रकार के कानून बनाए गए जिस से उनका प्रतिनिधित्व शैक्षिक संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में बढ़ाया जासके तथा इस वर्ग के लोगों के प्रति सामाजिक भेदभावा को कम किया जासके।

भारत में व्याप्त घोर असमानता को संवैधानिक तरीकों से दूर करने के लिये तथा शिक्षा के माध्यम से आयी राजनीतिक जागरुक्ता एवं कल्याणकारी राज्य की बाध्यताओं ने राज्य एवं सरकार को समाज के कमजोर एवं सामाजिक तथा शैक्षिक रुप से अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की। यहां यह स्पष्ट है कि राज्य हस्तक्षेप करके सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयास करता है। भारतीय संविधान निर्माताओं के सामने समानता के लक्ष्य के साथ सामाजिक विषमताओं को भी दूर करने का दायित्व था इस लिए मौलिक अधिकारों के साथ–2 राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोग किया।

आरक्षण के उपकरण के माध्यम से भारत में विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया गया है। शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के माध्यम से जहां एक ओर साक्षरता तथा शैक्षिक योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया वहीं सरकारी नौकरियों में आरक्षण के माध्यम से इन वर्गों की उपस्थिति तथा अनुपात बढ़ाने का प्रयास किया गया। चूंकि भारत में संसदीय व्यवस्था है इस लिए कार्यपालिका द्वारा किसी

नीति को कार्यान्वित करने के लिए विधायिका से कानून बनवाने की जरुरत पड़ती है और न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार एक स्वस्थ लोकतंत्र की अलामत है इस लिए समय समय पर आरक्षण से सम्बन्धित मामलों पर न्यायालय ने निर्णय सुनाए हैं। अब हम उन प्रावधानों का वर्णन करेंगे जो संविधान तथा सरकार ने उठाये हैं।

25.4.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

भारतीय संविधान के निमाताओं द्वारा भारतीय नागरिकों को समानता एवं स्वतंत्रता के सामान्य अनुच्छेदों के साथ समाज के सामाजिक और शैक्षणिक रुप से पिछड़े वर्गों के लिये विशेष व्यवस्था की गयी है। जहां भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 16 समानता का सिद्धान्त स्थापित करते हैं वहीं अनुच्छेद 15 (4) और 16(4) सामाजिक न्याय पर बल देते हैं। अनुच्छेद 15 (4) के अनुसार ''इस अनुच्छेद में कुछ भी ऐसा नहीं है जो राज्य को नागरिकों के किसी भी सामाजिक एवं शैक्षिक रुप से पिछड़े वर्ग के विकास के लिये अथवा अनुसूचित जाति अथवा जनजातियों के लिए कोई भी विशेष प्रावधान बनाने से रोकेगा''। इसी प्रकार अनुच्छेद 16(4) में प्रावधान है कि '' इस अनुच्छेद में कुछ भी ऐसा नही है जो राज्य को ऐसे नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग के पक्ष में नियुक्तियों अथवा रिक्तियों के आरक्षण के लिए कोई विशेष प्रावधान बनाने से रोकेगा जिसको राज्य की नजर में राज्य के तहत सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व नही मिला हो''। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 38 एवं 46 विशेषतः जनता के वंचित तबकों के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने को लक्षण मानते हैं। अनुच्छेद 38 के अनुसार (i) ''राज्य यथासम्भव प्रभावी तरीके से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा एवं संरक्षण द्वारा लोगों के कल्याण को प्रोत्साहित करने का प्रयास करेगा जिसमें न्याय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करता हो'' तथा (ii) ''राज्य विशेषतः आय में असमानताओं को कम करने के लिये संघर्ष करेगा और सामाजिक स्थिति, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को दूर करने का प्रयास करेगा, न सिर्फ व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले अथवा विभिन्न व्यवसायों में रत लोगों के समूहों के बीच भी''। अनुच्छेद 46 के अनुसार '' राज्य विशेष सावधानी के साथ दुर्बल वर्गों और विशेषतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहन देगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनको संरक्षण प्रदान करेगा''। इसी प्रकार भारतीय संविधान के अन्य अनुच्छेद जैसे 330, 332, 335, 338, 340, 341 और 342 सामाजिक न्याय प्राप्त करने एवं दुर्बल वर्गों को सशक्त करने की ओर लेजाते हैं। इसमें संघीय तथा राज्य विधान मण्डलों में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण से लेकर राष्ट्पति को यह अधिकार दिया गया है कि वह इन कमजोर वर्गों के अधिकार संवर्धन के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति करे। अनुच्छेद 338 के अनुरुप भारत में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग एवं पृथक रुप से अनुच्छेद 338 (क) के अधीन राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन किया गया है।

इसी प्रकार अनुच्छेद 340 में पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति के सन्दर्भ में प्रावधान है। ऐसे आयोग का गठन राष्ट्पति द्वारा किया जाता है। 1953 में राष्ट्पति ने अपनी इस शक्ति काप्रयोग करते हुए काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया था। दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग 20 सितम्बर 1978 को बिन्देशवरी प्रसाद मण्डल की अध्यक्षता में गठित किया गया। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 31 दिसम्बर 1980 को सरकार के समक्ष

प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर 1990 में सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित करने की घोषणा की। लेकिन इस पर विवाद खड़ा होने पर 1993 में पिछड़े वर्गों के लिये संसद ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम पारित किया जिसके अधीन एक आयोग की स्थापना की गयी। मण्डल आयोग ने अन्य पिछड़े वर्गों के लिये 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की थी जिसे न्यायालय में चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने 16 नवम्बर 1992 को इन्द्रिा साहनी बनाम भारत संघ मामले में अपना ऐतिहासिक निर्णय देते हुए 27 प्रतिशत आरक्षण को उचित माना तथा कुल आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक नही होगा। इसी निर्णय में क्रीमी लेयर creamy layer की व्यवस्था की गयी अर्थात अन्य पिछड़े वर्गों में उच्च स्तर के व्यक्तियों को इस आरक्षा का लाभ नहीं मिलेगा।

वर्तमान में आरक्षण का लाभ सरकारी नौकरियों के साथ केन्द्रीय शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश में भी विस्तरित कर दिया गया है। अब अनुसूचित जातियों को 15 प्रतिशत, अनुसूचित जनजातियों को 7.5 प्रतिशत तथा अन्य पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण का लाभ दिया जारहा है।

राज्य सरकारों को अधिकार है कि वह अपने राज्य में जनसंख्या के अनुपात में 50 प्रतिशत सीमांकन को ध्यान में रखते हुए इन कमजोर वर्गों के आरक्षण प्रतिशत का राज्य स्तर की सेवाओं एवं शिक्षण संस्थाओं में निश्चित करें।

25.4.2 समस्याएँ

समाज के विभिन्न वर्गों के लिये आरक्षण की व्यस्था स्वतंत्रता से पूर्व तथा पश्चात भी वाद विवाद का विषय बनी रहीं। आरक्षण की नीति से समाज में जाति विभेद बढ़ा है। जिन समूहों, जातियों को आरक्षण के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़रहा है उनके द्वारा आरक्षण का विरोध किया जाता है। उदाहरण के लिये संविधान लागू होने के लगभग 40वर्षों बाद अन्य पिछड़े वर्गों के लिये आरक्षण की व्यवस्था की गयी। तत्कालीन वी0पी0 सिंह सरकार की मजबूरी थी जिसने मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का निर्णय लिया। उच्च जाति के युवाओं ने इस निर्णय को अपने भविष्य के साथ खिलवाड़ मानते हुए व्यापक स्तर पर आंदोलन चलाया। लगभग 207 युवाओं ने इस फैसले कोबदलने केलिए आत्मदाह किया। ज्ञातव्य है कि 1953 में पहले आयोग ने भी अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिये सिफारिश किया था लेकिन कालेलकर आयोग की सिफारिशों को अव्यवहारिक कहकर ठन्डे बस्ते में डाल दिया गया था।

भारत में निश्चय ही आरक्षण की योजनाओं से आर्थिक उन्नति में वृद्धि के साथ कमजोर वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई है। लोकसेवाओं में पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ा है। कमजोर वर्गों में शिक्षा के प्रति जागरुकता बढ़ी है। राजनीतिक चेतना में वृद्धि के साथ इन वर्गों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ रही है। लेकिन इसी के साथ ही आरक्षण के कुपरिणाम भी सामने आये हैं जिनसे इनकार नही किया जासकता जैसे प्रशासन और राजनीति में जातिवाद बढ़ा है। समाज के सभी कमजोर वर्गों को आरक्षण का लाभ नहीं मिल पारहा है। पिछड़ों में अग्रणी अच्छी तरह लाभान्वित हो रहे हैं, जबकि अतिपिछड़ा वर्ग और पिछड़ता जारहा है। इस प्रकार स्वयं दुर्बल जातियों में आपस में संघर्ष और तनाव को बढ़ावा मिला है। आरक्षण से निम्न जातियों की सुधरने की अपेक्षा उनकी निर्भरता बढ़ी है तथा उनकी प्रतिभा एवं योग्यता में कमी आयी है। आरक्षण की नीति से सामाजिक विद्वेष को बढ़ावा मिला है। यह तथ्य है कि उच्च जाति का एक मेधाबी अभ्यर्थी कोटा सिस्टम की वजह से चयनित नही होपाता और पिछड़े वर्ग का

अभ्यर्थी कम मेरिट पर अपने आरक्षित कोटे में चयनित होजाता है। उच्च वर्ग के अभ्यर्थियों में इस से ईष्या व विद्वेष बढ़ता है।

दूसरी ओर आरक्षण के मुद्दे को लेकर राजनीति बढ़ी है। वह जातियां जो मण्डल आयोग के द्वारा निर्धारित मापदण्ड के अनुसार अन्य पिछड़ी जातियों में नही हैं उनके द्वारा भी अपनी जाति को अन्य पिछड़ी जाति घोषित कराने के लिए हिंसक आन्दोलन चलाये गये हैं। राजनीतिक दल अपने वोट को देखते हुए इस प्रकार की राजनीति को बढ़ावा देते है।उदाहरण के लिए 2014 में लोक सभा चुनावों से पहले केन्द्र सरकार ने जाटों को अन्य पिछड़ी जाति का दर्जा देने का निर्णय लिया तथा संसद से इस सम्बन्ध में कानून भी पास हो गया क्योकि राष्ट्रीय अन्य पिछड़ा वर्ग आयोग ने उन्हें इसकी सिफारिश नही की थी।

बहरहाल राज्य सरकारों तथा केन्द्र सरकार को आरक्षण का क्रियान्वयन भलीभांति एवं अत्यन्त सावधानीपूर्वक करते हुए वास्तव में जो अत्यन्त निर्बल समूह हैं उनके उत्थान की व्यवस्था करनी चाहिए। आरक्षण तथा सकारात्मक विभेद की नीतियों के जो दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं उनको दूर करने का प्रयास करना चाहि।

अन्य पिछड़े वर्गों एवं अनुसूचित जातियों।जनजातियों के मध्य वैमनस्व को बढ़ावा मिला है। भूमिसम्पन्न व प्रबल अन्य पिछड़ी जातियां ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के दमन और शोषण की मुख्य शक्ति के रुप में दिखायी दी हैं। उन्होने वही दांव पेंच अपनाए हैं जो प्रबल उच्च जातियां प्रयोग में लाती थीं।

25.5 सामाजिक विषमताएँ और योग्यता का मापदण्ड

समाजशास्त्री एवं अर्थशास्त्री 'सामाजिक असमानता' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका अभिप्राय होता है कि समाज के संसाधनों एवं लाभों का प्रयोग विभिन्न समूह असमान ढंग से करते हैं दूसरे शब्दों में कुछ समूहों को अधिक भाग मिल जाता है तो कुछ को कम मिल पाता है। उदाहरण के लिए महिलाओं को अधिकतर सामाजिक व्यवस्था में काम ज्यादा करना पड़ता है तथा उनको इसका पारितोषिक कम मिलता है। यह भी हो सकता है कि उनकी योग्यता भी ज्यादा हो। इसी प्रकार अमेरीकी समाज में अफ्रो–अमेरीकन समूहों की शैक्षणिक योग्यताकम होती है तथा उनको श्वेतों की तुलना में वेतन भी कम मिलता है। समाजशास्त्रीयों ने इस के लिए एक मापदण्ड बनाया है जिसे सामाजिक–आर्थिक मापदण्ड (Socio-economic Scale/SES) कहा जाता है। इसमें आय (Income), शिक्षा (Education) तथा व्यवसायिक सम्मान (Occupational prestige) को आंका जाता है। उदाहरण के लिये एक व्यापारी कारखाने में काम करनेवाले श्रमिक से ऊंचा माना जाता है। इसी प्रकार एक प्रोफेसर व्यापारी से सामाजिक स्तर में ऊंचा समझा जाता है। यह हो सकता है कि व्यापारी ज्यादा धन कमाता हो।

विभिन्न समाजों में आर्थिक असमानता के अतिरिक्त समाज के विभिन्न संसाधनों के उपयोग को लेकर भी विषमताएं पायी जाती हैं य़द्यपि हर समाज यह दावा करता है कि योग्यता (Merit) के आधार पर उनके यहां संसाधनों का वितरण किया जाता है परन्तु नस्लीय भेद, क्षेत्रीय असंतुलन और विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रह न्यायपूर्ण वितरण में रुकावट बनजाते हैं। आदिवासी / ट्राइबल समाजों में इस प्रकार की विषमता कम दिखाई देती है। यहां सामाजिक समरसता एवंसमानता को ज्यादहै सराहा जाता है जो आजबकि आधुनिक समाजों में जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आए हैं और जहां पूंजी निर्माण के माध्यम से भौतिकवादी

व्यवस्था बढ़ती जा रही है वहां धन एवं सामाजिक स्तर को प्रोत्साहित किया जाता है। ऐसे समाजों में बराबर संघर्ष और प्रतिद्विन्दिता बनी रहती है। यहीं सामाजिक पदसोपान शुरु होता है। सरमारी सेवाओं एवं सार्वजनिक उद्यमों तथा बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था इस पदसोपान को बढ़जाने में मदद करती है।

समाज में सामाजिक रुत्बे (Status) की प्राप्ति किसी व्यक्ति को दो प्रकार से हो सकती है। एक तो जन्म के कारण दूसरे स्वयं की योग्यता के कारण। अधिकांश समाजों में एक व्यक्ति को दोनों गुणों से सम्पन्न होने पर ही ऊपर का दर्जा प्राप्त होता है। परन्तु कुछ समाजों में केवल जन्म के आधार पर ही किसी व्यक्ति को ऊपर का दर्जा प्राप्त हो जाता है। इसे हम जाति असमानता के नाम से जानते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य समाजों में सामाजिक विषमता तीन वर्गों में विभक्त की जाती है यथा उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग। सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए उदारवरदी लोकतंत्र में व्यक्तिवादी विचारों को माध्यम बनाया जाता है, जबकि समाजवादी देशों में व्यक्तिवाद की जगह समष्टिवादी तरीकों से समाज के संसाधनों राज्य के कठोर नियंत्रण से हल ढूंढा जाता है।

सामाजिक विषमता की बड़ी मार महिलाओं को झेलनी पड़ती है। आम तौर से श्रम विभाजन के आधार पर महिलाओं को अधिक कार्य तथा कम मजदूरी के साथ ही साथ राजनीतिक सहभागिता में उनका अंश बहुत कम होता है। बहुत से वैश्विक मुद्दे जैसेएच.आई.वी. एड्स (HIV/AIDS), निरक्षरता तथा निर्धनता को महिलाओं की समस्या समझा जाने लगा है, चूंकि वही ज्यदा प्रभावित हैं। नस्ल एवं नृजातीय समूहों को भी समाज में व्याप्त पूर्वाग्रहों के कारण रोजगार प्राप्त करने एवं अपने स्तर को ऊंचा उठाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, यहां तक कि सरकारी नौकरियों में भी उनके साथ भेदभाव किया जाता है। अमेरीका में सरकारी नीतियों जैसे (War on Drugs) 'नशीले पदार्थों के विरुद्ध युद्ध' ने बजाय ड्रग्स को समाप्त करने के समाज के दुर्बल वर्गों को और परीशानी में डाला है। ड्रग अपराधों की वजह से 10 लाख अफ्रो अमेरीकन जेलों में बन्द है। कनाडा में स्थानीय आदिम जातियों का वहां की जनसंख्या में प्रतिशत मात्र 3 है परन्तु संघीय कारागारों में उनकी संख्या एक चौथाई से अधिक है।

25.5.1 संदर्भ में भारतीय सामाजिक विषमताएँ

कानूनी समानता की स्थापना के बावजूद भारत में दलितों के साथ सामाजिक भेदभाव एवं उनके मानवाधिकारों का लगातार उल्लंघन एक कड़वी सच्चाई है। दलितों का एक बहुत बड़ा भाग आज भी अशिक्षित है जिसके परिणामस्वरुप उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति बहुत खराब है। देश के अधिकांश केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित शिक्षकों के अनेक पद खाली हैं। इसका कारण इस समुदाय के सदस्यों के साथ हो रहा जातीय भेदभाव है। उदाहरण के लिये जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में कार्यरत शिक्षकों में केवल 3.29 प्रतिशत शिक्षक ही अनुसूचित जाति समुदाय के हैं। उदारीकरण के फलस्वरुप निजी क्षेत्र में दलितों का प्रतिनिधित्व और भी कम है। भारत में भी सरकारी क्षेत्र लगातार सिमटता जारहा है जिससे वंचित समुदायों के सदस्यों के लिए रोजगार के अवसर लगातार कम होते जारहे हैं।हिन्दु समाज जाति आधारित सोपानात्मक व्यवस्था पर आधारित है, जिसमें दलितों एवं भूमिहीन किसानों को निम्न स्थान दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के साथ भेदभाव निजी क्षेत्र में

खामोशी के साथ विद्यमान है। भोजनालयों, स्कूलों , मन्दिरों एवं जल के स्रोतों तक पहुंच आदि मामलों में इनसे भेदभाव होता है।

भारतीय समाज में बहिर्वेशन की समस्या बहुत गम्भीर है। समाज की बहुत बडी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली महिलाएं, दलित, आदिवासी एवं अल्पसंख्यक बहिर्वेशन की समस्या का गम्भीर रुप से सामना कर रही हैं। किसी समाज में कुछ नागरिकों या नागरिक समूहों के प्रति अन्य नागरिक समूहों या राज्य द्वारा भेदभाव पूर्ण एवं घृणास्पद व्यवहार करने को बहिर्वेशन कहते हैं इसका स्वरुप सांस्कृतिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक एवं धार्मिक हो सकता है।

अनुसूचित जातियों तथा अल्पसंख्यकों के ऊपर अत्याचार, उत्पीणन एवं शोषण को विभिन्न रुपों में देखा जा सकता है जिसमें जातीय संघर्ष, हिंसा एवं साम्प्रदायिक दंगे मुख्य हैं और इस प्रकार की स्थितियों में आम तौर से कानून व्यवस्था स्थापित करने वाले अभिकरणों का पक्षपातपूर्ण रवैया सामाजिक विषमता को और बढ़ावा देता है।

जातीय हिंसा, मार पीट एवं गुन्डागर्दी ग्रामीण क्षेत्रों में एक आम बात है। भारतीय समाज के सभी वर्गों में गरीबी का सामना करने वाले लोगों की संख्या बहुत बड़ी है परन्तु आर्थिक उदारीकरण के बाद विकास का बहुत कम लाभ वचित समुदायों को मिला है। इसका कारण उनकी निम्न सामाजिक स्थिति, रोजगार के अवसरों में कमी, नौकरियों में सामाजिक भेद भाव एवं प्राचीन काल से इन्हें वंचित समूह के रुप में रखने की परम्परा इत्यादि हैं। इनमें से एक बहुत बड़ी संख्या भूमिराहीन मजदूरों की है। उनका अधिकांश भाग निम्न श्रेणी के कार्य करता है और उत्पादन के स्रोतों जैसे भूमि, जंगल और पानी आदि पर उसका नियंत्रण प्रायः नही के बराबर है। संयुक्त राष्ट्र 'विश्व सामाजिक रिपोर्ट 2010' ने यह स्वीकार किया है कि भारत में दलित और खासकर दलित महिलाएं पूरी तरह हाशिये पर धकेल दी गयी हैं।

भारत में आज भी अस्पृष्यता का कठोर पालन किया जाता है। आन्ध्रप्रदेश में अम्बेडकर शती समारोह समिति ने अपने सर्वेक्षण में यह पाया कि 249 में से 122 ग्रामों में चाय की दुकानों पर दलित वर्गों को चाय अलग बर्तनों में दीजाती है तथा सेवन के बाट उन्हीं को बर्तन धुलने पड़ते हैं। इसी प्रकार तमिलनाडु, उ0प्र0, राजस्थान और केरल में कुछ स्थानों पर दलितों को गांव के कुओं पर जाने की इजाजत नहीं यहां तक कि धोबी एवं नाई भी उनकी सेवा से इन्कार करदेते हैं। कुछ गांवों में दलितों को जूता, चप्पल एंव जैकेट पहनने की अनुमति नही है।

राज्य ने लोककल्याणकारी नितियों का अनुसरण करते हुए समाज के दुर्बल वर्गों, महिलाओं, वद्धों एवं अल्पसंख्यकों के लिए यद्यपि बड़े पैमाने पर कार्यक्रम चलाये हैं परन्तु उनका लाभ इन वंचित समूहों को नही मिल पाता। देश में हरित क्रान्ति से पैदावार जरुर बढ़ी लेकिन इसने गरीबों के लिए और समस्याएं पैदा कीं। भारत में ग्रामीण क्षत्रों में लाखों की संख्या में किसानों की आत्म हत्या इसका ज्वलंत उदाहरण है। तीव्र नगरीकरण, बड़े उद्योगों की स्थापना तथा देश में नैगम संस्कृति (corporate culture) ने भी सामाजिक विषमता को बढ़ावा दिया है । राज्य खुद एक बड़ा उद्योगपति बनगया है। जनता की जमीनों को विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ), अनन्य आर्थिक क्षेत्र (EEZ) तथा बड़े–2 बांध एवं बड़ी–2 परियोजनाएं बनाकर उनको जमीनों से बेदखल करना तथा नगरों में झोपड़ पट्टियों में वृद्धि इस प्रकार की नीतियों की पैदावार है। सामाजिक विषमता को समाप्त करने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है और सर्वशिक्षा अभियान के अन्तर्गत व्यापक स्तर

पर शिक्षा को फैलाने का प्रयास चल रहा है लेकिन यह शिक्षा अपनी गुणात्मक विशेषता खोती जा रही है। समय पर शिक्षकों की भर्ती न करना तथा सार्वजनिक क्षेत्र में बच्चों के लिये शिक्षा व्यवस्था का कमजोर ढांचा सामाजिक विषमता की खाई को बजाए पाटने के और गहरा कर रहा है। एक ओर धनाढ्य परिवारों के बच्चे महंगी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं तो दूसरी तरफ गरीब और हाशिए पर धकेले गये परिवारों के बच्चे या तो स्कूल से बाहर हैं या उनका ड्रापआउट रेट बहुत ज्यादा है। शिक्षा के निजीकरण ने उनके लिए और कठिनाइयां खड़ी कर दी हैं। साक्षरता की दर में भले ही वृद्धि दिखाई दे लेकिन शिशु मृत्यु दर एवं कुपोषण के शिकार बच्चों की संख्या में सुधार का न होना, स्वास्थ्य की सेवाओं से वंचित परिवार सामाजिक विषमता को और बढ़ावा दे रहे है। आर्थिक क्षेत्र में एक लम्बी छलांग लगाने के बावजूद भी भारत का वैश्विक मानव विकास सूचकांक मे वर्ष 2014 में भी 135वां स्थान है। इन्टरनेशनल फूड पालासी एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने वर्ष 2011 में 81 राष्ट्रों में किये गये सर्वे के उपरान्त ग्लोबल हंगर इन्डेक्स में भारत को 67वें स्थान पर पाया।

हमारी कृषि पिछड़ती जा रही है। भारत में प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता में निरन्तर कमी आ रही है। वर्ष 2006 में प्रति व्यक्ति दैनिक खाद्यान्न उपलब्धता 445.3 ग्राम थी जो 2011 में घटका प्रतिव्यक्ति मात्र 438.6 ग्राम रह गयी है। स्वच्छ पानी प्रत्येक व्यक्ति को मिल जाए, ऐसा स्वतंत्रता के 67 वर्ष बाद भी नही हो पाया है। जाति, भाषा, धर्म एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता के आधार पर समाज निरन्तर प्रभावित होता चला जा रहा है।

25.6 सारांश

राज्य की संस्था अमूर्त रुप में होते हुए भी पिछली चार शताब्दियों से अधिक काल में विभिन्न आर्थिक विचारधाराओं के साथ ही साथ सामाजिक विचारों से सम्बद्ध रही। जैसे–जैसे समाज में बोध एवं चिंतन बढ़ा है राज्य को अलग–अलग तरह की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियां अपनाते हुए पाया गया। किसी समय में राजा को ईश्वर का धरती पर प्रतिनिधि माना जाता था तथा धर्म का राजनीतिक जीवन में बड़ा महत्व होता था लेकिन यूरोप की राजनीतिक सामाजिक घटनाओं से राज्य में धर्म के विशेष महत्व को दरकिनार करने का प्रयास किया गया फिर भी फ्रांस जैसा धर्मनिरपेक्षवाद विश्व के अन्य समाजों में मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। राज्य को अपने भूमि क्षेत्र में निवास करने वाले विभिन्न धार्मिक समूहों खास तौर से अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं संस्कृति की रक्षा का बन्दोबस्त करना पड़ता है जिस से राज्य की छबि एक न्यूट्रल जज की बनी रहे। इसी प्रकार भारत के विशेष सन्दर्भ में मुसलमानों एवं ईसाइयो को खास तौर से वैयक्तिक विधियों के अनुसार विवाह, तलाक, सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार से सम्बन्धित कुछ अधिकार दिए गए है। लेकिन समय समय पर जहां एक ओर इस पेकार के विशेषाकिारों का कुछ समूहों एवं वर्गों द्वारा विरोध किया जाता है वही न्यायालयों के द्वारा भी ऐसे निर्णय दिए जाते हैं जो समान नागरिक संहिता की ओर क्रमिक विकास को दर्शाता है। इसी प्रकार आरक्षण व्यवस्था तथा उस से जुड़ी हुई राजनीति का हमने अध्ययन किया तथा उसके गुण दोषों को समझने का प्रयास किया। साथ ही राज्य की विभिन्न नीतियों के कारण या राज्य की अकुशलता की वजह से सामाजिक विषमता तथा भारत में व्याप्त घोर असमानता का भी अध्ययन किया। वास्तव में राज्य कभी भी आम जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सका। लोक कल्याण, लोकतंत्रीकरण तथा सत्ता में भागीदारी के नारे तो

लगाये गये लेकिन मूल में कुछ अभिजात एवं विशिष्ट वर्गों का बर्चस्व ही रहा जिसने राज्य की समग्र भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगाये।

ऊपर के पृष्ठों में हमने विभिन्न सामाजिक नीतियों ˙ का अध्ययन किया एवं यह देखा कि राज्य का क्या प्रतिउत्तर एवं भूमिका रही।

25.7 उपयोगी पुस्तकें

Brass, Paul (1994) The Politics of India since Independence (2^{nd} Edition), Cambridge, Cambridge University Press

Chandhok, Neera (1999), Beyond Secularism : The Rights of Religious Minority, New Delhi, Manas Publications.

Domhoff, G William (2013) “Who Rules America? The Triumph of the Corporate Rich”,Mac Graw Hill.

Jaya, Neerja Gopal (1999), Democracy and the State: Welfare Secularism and Development in Contemporary India, New Delhi’ Oxford University Press.

Sernau, Scott (2013), “ Social Inequality In a Global Age”, (Fourth Edition),Thousand Oaks, Sage.

Sharma K.L. (1999), Social Inequality in India : Profile of Caste, Class and Social Mobility, Jaipur, Rawat Publications.

Stiglitz, Joseph (2012), The Price of Inequality,New York, Norton.

Vershney, Ashutosh (2002), Ethnic Conflict and Civic Life, New Delhi, Oxford University Press.

कौशिक, रजनीश (2010), आरक्षण व्यवस्था समस्या या समाधान नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशंस

शर्मा, रामदेव (2000) ''आरक्षण : तनाव और समाधान'' इलाहाबाद, जयभारती प्रकाशन।

लवानिया, एम.ए. (2007) ''ग्रामीण समाज शास्त्र, जयपुर।, रिसर्च पब्लिकेशंस।

गुप्ता एम. एल. एवं शर्मा, डी. ड़ी (2005) ''भारतीय सामाजिक समस्याएं '' आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशंस।

गुप्ता, राजेश कुमार (2004) ''भारत में आरक्षण नीति, नई दिल्ली, मानक पब्लिकेशंस।

25.8 सम्बन्धित प्रश्न

लघु–उत्तरीय प्रश्न

(iv) धर्मनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं ?

(v) भारतीय संदर्भ में अल्पसंख्यक अधिकारों की विशेषता पर प्रकाश डालिए।

(vi) सामाजिक विषमताओं पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(iv) भारत में समान सिविल संहिता पर एक निबन्ध लिखिए।

(v) सामाजिक समस्याओं का विवेचन करते हुए उनको दूर करने के उपाय समझाइए।

(vi) धर्मनिरपेक्षता के भारतीय प्रतिमान की विशेषताएं बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 धर्मनिरपेक्षवाद का उदय काल माना जाता है

(अ) 1600–1700 ई0

(ब) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के बीच

(स) पुनर्जागरण काल

(द) औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात

2 'आरक्षण'के स्थान पर सामाजिक न्याय के क्षेत्र में प्रचलित अन्य व्यवस्था को कहते है ?

(अ) सार्वभौम मताधिकार

(ब) सकारात्मक कार्यवाही

(स) सामाजिक विभेदीकरण

(द) जनहित याचिका

3 'भारत में भाषायी अल्पसंख्यक कौन हैं ?

(अ) मुसलमान

(ब) पारसी

(स) सिक्ख

(द) किसी राज्य में जिस भाषा के बोलने वालों की संख्या कम है।

25.9 प्रश्नोत्तर

1 (स)

2 (ब)

3 (द)

इकाई 26

राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया

इकाई की रुपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 उदारीकरण

26.2.1 अर्थ

26.2.2 राज्य की भूमिका में ह्रास

26.2.3 उदारीकरण का स्वरुप

26.3 उदारीकरण से सम्बन्धित मुद्दे

26.3.1 भूमण्डलीकरण–अर्थ एवं लक्षण

26.3.2 निजीकरण

25.3.3 निजीकरण का औचित्य

26.3.4 निजीकरण और भारत

26.4 उदारीकरण और लोकतंत्र

26.5 भारत में उदारीकरण

26.6 भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभाव

26.7 सारांश

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.9 सम्बन्धित प्रश्न

26.10 प्रश्नोत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हम उदारीकरण के विभिन्न आयामों का अध्ययन करेंगे तथा यह देखेंगे कि किस प्रकार से उदारीकरण के लिए राज्य पर दबाव बढ़ा है एवं स्वयं राज्य कैसे उदारीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाला बना है। चूंकि उदारीकरण के साथ ही साथ भूमण्डलीकरण एवं निजीकरण को बढ़ावा मिला है इस लिए इन सिद्धान्तों की विशेषता एवं गुण दोष पर भी चर्चा की जाएगी।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप को उदारीकरण की प्रक्रिया को समझने में आसानी होगी तथा आप यह समझसकेंगे कि किस प्रकार नियोजित

अर्थव्यवस्था का स्थान विपणन अर्थव्यवस्था ने लिया है। इसके साथ ही आप यह जान सकेंगे कि विपणन अर्थव्यवस्था की खामियों ने किस प्रकार राज्य की आर्थिक तथा सामाजिक न्याय की संकल्पना को प्रभावित किया है एवं जनवादी तथा नव सामाजिक आन्दोलनों के उदय का कारण राज्य की क्षीण होती हैसियत फिर से लौटाने का प्रयास कर रही है।

26.1 प्रस्तावना

विकासशील समाजों में आम तौर से बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy) के स्थान पर नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भ के दशकों में वरीयता मिली। विकासशील देश आम तौर से पूंजी के संचयन से घबराते थे तथा कठिनाई से प्राप्त हुई अपनी स्वतत्रता को आर्थिक क्षेत्र में समग्र विकास के लिए प्रयोग करना चाहते थे। इन समाजों में इस प्रकार राज्य के कन्धों पर राष्ट्रनिर्माण एवं आर्थिक विकास का कार्यभार आपड़ा। नियोजित अर्थव्यवस्था को किसी देश में सफलता मिली तो कहीं पर इसके अच्छे परिणाम नही आये। बहर हाल 80 के दशक में यह स्पष्ट होने लगा था कि नियंत्रित अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था को बदलकर अब बाजार अर्थव्यवस्था से सारी समस्याओं का हल सम्भव है। उधर सोवियतसंघ के विघटन ने विकास का मार्क्सवादी प्रतिमान (जिस में राज्य को अर्थव्यवस्था और उससे जुड़े हुए कार्यकलापों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त होता है) की अप्रासंगिकता को स्पष्ट कर दिया था। इसलिए विकासशाील समाजों में आर्थिक विकास के लिए पुनर्चिंन्तन शुरु होगया और 90 के दशक ने उदारीकरण के नाम पर देशी अर्थव्यवस्थाओं को राज्य के नियंत्रण से आजाद करने का बिगुल बजा दिया। उदारीकरण के साथ ही संचार क्रान्ति ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को और तेज कर दिया तथा राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के लिये (Downsizing of Government and Rolling Back of State) सरकार का आकार कम करने तथा राज्य का क्षेत्र सीमित करने का नारा दिया जाने लगा। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के स्थान पर निजीकरण की मुहिम तेजी पकड़ने लगी। विकासशील देशों में चाहे किसी भी राजनीतिक दल या समूह की सरकार रही हो, इस प्रक्रिया को तेज करने का ही कार्य किया। हम इन सब बिन्दुओं पर आगे पाठांश में चर्चा करेंगे तथा भारत का विशेष सन्दर्भ भी लेंगे।

26.2 उदारीकरण

26.2.1 अर्थ

उदारीकरण का मौलिक अर्थ है – अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर नियंत्रणों और अधिनियमों का हटाया जाना ताकि बाजार की शक्तियां विकास की दिशा निर्धारित कर सकें। यह आर्थिक मामलों में प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देते हुए निजी एवं पारदेशीय पूंजी को जन्म देता है। यह व्यवस्था राज्य की एक सीमित भूमिका की पक्षधर है। अधिक विस्तृत सन्दर्भ में यह शब्द नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के प्रचलन, कानून के शासन, सत्ता की जवाब देयता, आवधिक चुनाव, न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा सक्रियता एवं बहुदलीय प्रतिद्वन्दी राजनीतिक प्रणाली के विकास को इंगित करता है और सुशासन एवं पारदर्शिता को नागरिक जीवन में लाने का प्रयास करता है।

अधिक सटीक अर्थ में उदारीकरण व्यापार और निवेश की स्वतंत्रता, मुक्त व्यापार क्षेत्रों का सृजन, घरेलू अर्थव्यवस्था में संसाधनों के आवंटन पर से सरकारी नियंत्रण को हटाने, विदेशी व्यापार एवं भुगतानों पर प्रतिबंधों को हटाने, विदेशी पूंजी निवेश, ऋण एवंसहायता धनराशि के फैलाव तथा तीव्र औद्योगिक प्रगति की घोषणा करता है। उदारीकरण सरकारी खर्चे में कटौती, संतुलित बजट, कराधानों में कमी, सामाजिक सुरक्षा और कल्याणकारी कार्यों में कटौती की वकालत करता है। इसका तक्र है कि अत्यधिक राज्य नियंत्रण से अक्षमता, भ्रष्टाचार एवं कुप्रबन्ध का रोग शासन को लगजाता है।

आर्थिक उदारीकरण एक व्यापक शब्दावली है। व्यापक दक्षता एवं प्रभाविकता के लिए इसको जरुरी माना जाता है। इसका विचार है कि इस प्रकार से उत्पादकता बढ़ेगी जिसका लाभ सभी को प्राप्त होगा।

26.2.2 राज्य की भूमिका में ह्रास

नियोजित अर्थव्यवस्था की असफलता को राज्य की असफलता माना जाता है और यह कि राज्य ही तमाम अर्थिक बुराइयों की जड़ है, यह विश्वास बढ़ने लगा कि विभिन्न समाजों के सामने आने वाली आर्थिक समस्याएं, सार्वजनिक क्षेत्र की निष्क्रियता, बड़ा काम, कम उत्पादकता एवं वेतनों में वृद्धि, सरकारी संरक्षण तथा प्रतिस्पर्धाहीनता के कारण है। कराधान की उच्च दरें और अपने पतनशील उद्योगों को संरक्षण, तथा सामाजिक कल्याण लाभों में वृद्धि से पूंजी की बचत नही हो पाती और राज्य का हस्तक्षेप तथा जनता की आशा कि उनकी सरकार उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करे, इसने लाभदायिकता को प्रभावित किया है। सरकारी हस्तक्षेप एवं कल्याणकारी नीतियों के कारण जनता में परजीविता को प्रोत्साहन दिया है तथा जोखिम उठाने की आदत को कुंद किया है। 80 के दशक में विश्व के बड़े हिस्सों में राज्य के हस्तक्षेप को कम करने एवं बाजार व उद्योग को मुक्त शक्ति प्रदान करने की वकालत की जाने लगी। सूचना तथा संचार क्रान्ति ने इसे नया आयाम प्रदान किया तथा यह बहस तेज हो गयी कि कराधान की दरें कम होनी चाहिए एवं सरकारी खर्चों में मितव्ययिता लानी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक ने खास तौर से तीसरी दुनिया के देशों पर दबाव डाला कि वह अपनी अर्थव्यवस्था को उदार करें। इसके लिये संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम चलाये गये। 1989 में पूर्वी यूरोप में समाजवादी शासनों के विध्वंस और 1991 में सोवियत संघ के विघटन को पूंजीवाद की विजय के रुप में पुकारा गया और बाजार की शक्तियों को और अधिक प्रोत्साहन मिला। यहां से नव उदारवादी (Neo-Liberal Age) युग की शुरुआत होती है जिसमें सीधे राज्य पर आक्रमण किया गया और यह कहा जाने लगा कि राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिये तथा इसे केवले रात्री पहरेदार (Night Watchman) के रुप में कार्य करना चाहिए।

26.2.3 उदारीकरण का स्वरुप

पश्चिमी देशों में उदारीकरण के लिये 70 के दशक के बाद से ही नवउदारवादी विचारों के अन्तर्गत बहस शुरु होचुकी थी। युद्धोत्तर आर्थिक स्मृद्धि के सिकुड़ते क्षेत्र के पीछे बहुत से कारणों में से एक ओर तो यूरोप व उत्तरी अमेरिका में ग्रामीण श्रम के स्तरों में कमी तथा जापान एवं नव–औद्योगिकृत देशों के द्वारा कठोर प्रतिस्पर्धा तथा पूंजी के भूमण्डलीकरण ने आर्थिक उत्पादकता और लाभों की मात्रा कम करनी शुरु कर दी इसलिए अब राज्य की कल्याणकारी

भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगने के साथ फिर से राज्य की न्यून भूमिका केवल कानून व्यवस्था बनाये रखने की संस्था के रुप में देखी जाने लगी।

यूरोप में उदारीकरण सार्वजनिक व्यय को घटाने, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण कार्यक्रमों में कटौतियों, उत्तरोत्तर कराधानों में कमी, पूर्ण रोजगार नीतियों का त्याग, व्यापार संघों पर नियंत्रण, लचीले श्रम बाजार तथा राज्य उद्यमों के निजीकरण की ओर लेगया है। लेकिन संरक्षित कृषि उत्पादन, आप्रावासन नीति एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित नही किया है। विकासशील देशों में आयात निर्यात, विदेशी निवेश, श्रम बाजार आदि को राज्य नियंत्रित करता था। राज्य धीरे धीरे इस प्रकार काफी ताकतवर हो गया था। राज्य उद्योग, कृषि, बाजार एवं वित्तीय संस्थाओं की एक बड़ी श्रृंखला का स्वामी था। निजी पूंजी एवं समूहों के लिए सेवा एवं कल्याण की दृष्टि से औद्योगिकएवं वित्तीय संस्थाओं का रास्ता बन्द था। 70 के दशक के मध्य तक इन देशों में से अधिकतर ऋणग्रस्तता के शिकार हो चुके थे। इन देशों में अत्यन्त कमजोर शासक समूह इन बाहरी झटकों को झेलने में असमर्थ थे जो पहले से ही जनसंख्या वृद्धि एवं विभिन्न हितों के कारण कमजोर होते जारहे थे। इसलिए एक मात्र विकल्प के रुप में इन देशों ने उदारीकरण को स्वीकार कर लिया। इन विकासशील देशों ने अपने यहां आर्थिक सुधार किये। नौकरशाही के आकार को छोटा करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। राज्य व्यय पर नियंत्रण, मुद्रा अवमूल्यन, विभिन्न प्रकार के उत्पादों पर सब्सिडी को समाप्त करना या घटाना, कृषि और स्थानीय उत्पादों का संरक्षण समाप्त करदेना इत्यादि उदारीकरण के फलस्वरुप देखने में आया।

26.3 उदारीकरण से सम्बन्धित मुद्दे

26.3.1 भूमण्डलीकरण–अर्थ एवं लक्षण

भूमण्डलीकरण एक बहुआयामी खुली प्रक्रिया है। भूमण्डलीकरण का अभिप्राय भूमण्डल के विभिन्न लोगों एवं देशों के मध्य बढ़ती हुयी पारस्परिकता है। यह पारस्परिकता आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संबन्धों में निहित होती है। भूमण्डलीकरण व्यापार, वित, पूंजी, प्राद्योगिकी, सूचना एवं संस्कृति के अन्तरराष्ट्रीय प्रवाह की ओर इशारा करता है।

भूमण्डलीकरण एक आर्थिक व्यवस्था है परन्तु अनिवार्यतः अन्य मामलों में भी भूमण्डलीकरण राष्ट्रीय सीमाओं को लांघते हुए विभिन्न देशों की अर्थ व्यवस्थाओं तथा लोगों के जीवन के विविध पक्षों में आपसी सम्बन्धों एवं एक दूसरे को प्रभावित, परिवर्तित करने की क्षमता के रुप में दिखाई देता है। द्वितीयतः भूमण्डलीकरण एक नीतिगत व्यवस्था है। विशेषकर विश्वव्यापी पूंजीवाद के लिए जरुरी समझी जाने वाली राज्यनियंत्रण मुक्त व्यवस्था है। तृतीयतः भूमण्डलीकरण एक मूल्यगत पसंद के रुप में प्रचारित किया जारहा है। इन मूल्यों में विविधता तथा विरोध के बावजूद कुछ सामान्य तत्व देखे गए हैं। भूमण्डलीकरण विद्यमान सामाजिक, आर्थिक ढांचे में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, राज्य की सीमित भूमिका, आर्थिक निर्णयों की आजादी, सांस्कृतिक आजादी को विश्वव्यापी स्तर पर स्वीकृत और वांछनीय माना जाता है, परन्तु कई लोग इसे विचारों, संस्कृतियों, मूल्यों आदि के क्षेत्र में निपट व्यक्तिवादी मान्यताओं और मूल्यों को महिमामण्डित करने के प्रयास के रुप में देखते हैं।

भूमण्डलीकरण के उपरोक्त वर्णन से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :

- भूमण्डलीकरण अन्तर्सम्बन्ध में विश्वास करता है। विश्व का प्रत्येक भाग संचार के साधनों से जुड़ा हुआ है। यह उन समस्याओं के कारण भी है जो आज एक राष्ट्र राज्य से निकलकर सम्पूर्ण भूमण्डल को प्रभावित करती हैं जैसे जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत का छरण, नशीली दवाएं, आतंकवाद एवं महासागरों का प्रदूषण आदि।
- भूमण्डल के एक कोने से घटित होने वाली क्रियाओं का प्रभाव दूसरे क्षेत्र में तीव्र गति से पड़ता है। उदाहरण के लिये पूर्व एशियाई संकट जिसका प्रभाव न्यूयाक्र स्टाक एक्सचेन्ज तथा विश्व के अन्य बाजारों पर पड़ता है।
- भूमण्डलीकरण की आड़ में अंग्रेजी भाषा, अमेरिकी संस्कृति, राष्ट्रीय संस्कृति में घुसपैठ करती हैं तथा इन्हें आदर एवं सम्मानसूचक माना जाने लगा है, एवं राष्ट्रीय तथा देशज संस्कृतियों को हीनता की दृष्टि से देखा जाने लगा है।
- संचार प्राद्योगिकी का विकास राष्ट्र राज्य के प्राधिकार को गुप्त रुप से हानि पहुंचाता है और राष्ट्र राज्यों की सम्प्रभुता को खतरा पैदा करता है।
- भूमण्डलीकरण के प्रचलित प्रतिमान ने आर्थिक विषमताओं को और बढ़ाया है और गरीबों की हालत बदतर की है।
- भूमण्डलीकरण नए अवसर भी लाता है। यह लोगों को उपलब्ध विकल्पों की श्रेणी को उल्लेखनीय रुप से विस्तार देता है।
- भूमण्डलीकरण ने श्रम बाजारों में शिथिलता पैदा की है एवं श्रम प्रवास को एक राज्य में तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सरल करदिया है एवं विदेशी मुद्रा कमाने का एक नया स्रोत खोल दिया है।
- भूमण्डलीकरण ने बहुराष्ट्रीय निगमों, अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संगठनों जैसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं को शक्तिशाली किया है।

26.3.2 निजीकरण

विश्व में आज परिस्थितियां ऐसी होती जा रही हैं कि उनसे बाध्य होकर कोई भी देश अपनी अर्थव्यवस्था की पुनः संरचना करने से बच नही सकता। निजीकरण शब्द का प्रयोग अनेक विचारों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विचार है विराष्ट्रीयकरण अर्थात सार्वजनिक उद्यम के स्वामित्व को सरकार के हाथ से लेकर निजी हाथों में देना। शब्द 'निजीकरण को दो असम्बन्धित लेनदेनों के वर्णन के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रकार 'निजीकरण' व्यवसाय, उद्यम, एजेन्सी या सार्वजनिक सेवा के स्वामित्व के सार्वजनिक क्षेत्र राज्य या सरकार से निजी क्षेत्र–निजी लाभ के लिए संचालित व्यवसाय या निजी गैर लाभ संगठनों के पास स्थानान्तरित होने की घटना या प्रक्रिया है।

निजीकरण कई प्रकार से हो सकता है। एक तो राज्य या सरकार द्वारा स्थापित कम्पनी के शेयरों को या स्वामित्व को पूरी तरह निजी व्यक्ति या समूह को बेच देना तथा स्वामित्व के सारे अधिकारों का ट्रान्सफर कर देना। दूसरे सेवा के क्षेत्र में निजीकरण अर्थात स्वामित्व अपने पास रखते हुए सरकार ठेकदारों को सेवाओं की आपूर्ति पर अदायगी करती है।

25.3.3 निजीकरण का औचित्य

अर्थव्यवस्था में मन्दी आने के कारण उत्पादकता घट जाती है तथा लागत खर्च बढ़ने लगता है। इस लिए राज्य इस कुचक्र से निकलने के लिए निजीकरण का मार्ग अपनाता है।

दूसरा कारण यह है कि लम्बे समय से सरकारी स्वामित्व की इकाइयों में अक्षमता आजाती है। उनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं के स्तर से यह स्पष्ट होजाता है। यद्यपि सरकारें उनमें आर्थिक निवेश बहुत करती है।

एक कारण यह भी है कि सरकारी स्वामित्व में कर्मचारीवृन्द को अनावश्यक संवैधानिक संरक्षण मिला होता है जिसके कारण उनकी अक्षमता पर उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही बड़ी विलम्बकारी एवं खर्चीली होती है जबकि निजीकरण में इस प्रकार की समस्याएं नहीं होतीं।

चूंकि सार्वजनिक उद्यमों में प्रतियोगिता नही होती इसलिए उनकी कार्यकुशलता पर विरीत प्रभाव पड़ता है। इस लिएभी निजीकरण को स्वीकार किया जाता है। निजीकरण के सम्बन्ध में समस्त विश्व में बौद्धिक विचार विमर्श तथा वाद विवाद शुरु हुआ तथा लोकमत के दबाव का भी इस सम्बन्ध में प्रभाव पड़ा।

इसी प्रकार सहायता देने वाली कुछ आर्थिक संस्थाओं ने भी शर्त लगादी कि सहायता धनराशि उन देशों को तभी दी जाएगी जब उनके द्वारा निजीकरण किया जाएगा। इससे निजीकरण की प्रक्रिया को बल मिला।

26.3.4 निजीकरण और भारत

उदारीकरण की मजबूरियों ने भारत को भी इस पर तैयार किया कि वह अपनी रुग्ण एवं हानिप्रद संस्थाओं को निजीकरण की राह पर लेचले। भारत में कुछ भी हो समाजवादी आन्दोलन तब तक कमजोर नही हुआ था। यद्यपि पूरवी यूरोप तथा सोवियत संघ के राज्यों ने अपने देशों में सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण शुरु कर दिया था। लेकिन भारत में निजीकरण एवं पूंजी विनिवेश की नीतियों का व्यापक विरोध हुआ। भारत सरकार ने एक विनिवेश आयोग (Disinvestment Commission) की स्थापना की तथा आगे चलकर एक विनिवेश मंत्रालय का भी गठन हुआ जो बाद में बन्द हो गया। इस आयोग ने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को विनिवेश के लिए दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया। यह श्रेणियां थीं–कोर समूह तथा गैर कोर समूह। कोर समूह के अन्तर्गत वे लोक उद्यम हैं जिनके लिए बाजार बहुत अधिक है। इसके साथ ही रुग्ण उद्यमों की वित्तीय सेहत की जांच के लिए औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) का गठन हुआ । 1998 के अन्त तक 138 रुग्ण सार्वजनिक उद्यमों को (BIFR) के साथ पंजीकृत कराया गया। भारत सरकार ने तीव्र विरोधों के बीच निम्नलिखित कम्पनियों का निजीकरण किया :

- भारत अलूमीनियम कम्पनी लिमिटेड
- सी. एम. सी. लिमिटेड
- हिन्दुस्तान ज़िंक लिमिटेड
- एच0 टी0 एल0 लिमिटेड
- इन्डियन पेट्रोकेमिकल कारपोरेशन लिमिटेड
- इन्डियन होक्के होटल्स लिमिटेड
- जेसप एण्ड कम्पनी लिमिटेड
- लगन जूट मशीनरी कम्पनी लिमिटेड
- मारुती उद्योग लिमिटेड

- मार्डन फूड इन्डस्ट्रीज लिमिटेड
- पैराद्वीप फासफेट्स लिमिटेड
- पंजाब होटल्स लिमिटेड
- विदेश संचार निगम लिमिटेड इत्यादि

निजीकरण पर उपलब्ध साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि भारत सरकार ने अत्यन्त सावधानी से सभी हितों की सुरक्षा का ध्यान देते हुए पारदर्शी नियम बनाए। जिस प्रकार लातीनी अमेरिका या भूतपूर्व सोवियत संघ के देशों में सार्वजनिक उद्यमों को औने पौने दामों बेचा जारहा था, ऐसा भारत में सजग जनमत, न्यायालय एवं सचेत मीडिया के कारण सम्भव नही था। भारत ने सोच समझकर एवं विभिन्न स्तरों से नीतियों को गुजारकर ज्यादातर तो आंशिक पूंजी विनिवेश की बात चलाई।ऐच्छिक अवकाश योजना (Voluntary Retirement Scheme-VRS) के माध्यम से कामगारों तथा अधिकारियों को मैाका दिया तथा सार्वजनिक सम्पत्ति का अधिक से अधिक मूल्य निवेशकों के हितों का ध्यान देते हुए प्राप्त किया। यही वजह है कि निजीकरण के माध्यम से भारत एक बार फिर सार्वजनिक उद्यमों की साख बनाने में कामयाब होगया जिनका उदाहरण हम लोग नौ–रत्न एवं मिनी नौ–रत्न कम्पनियों की सूरत में देखते हैं। इन कम्पनियों को अब निजी उद्यमों के समान व्यापक स्तर पर स्वायत्ता प्राप्त है।

निजीकरण के क्षेत्र में भारत ने एक रास्ता और अपनाया। वह यह था कि सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के साथ साथ अर्थ व्यवस्था के बहुत से क्षेत्रों में निजी देशी और विदेशी पूंजी को भी मान्यता देदी जैसे नागरिक उड्डयन, बीमा, बैंकिंग, स्वास्थ्य, शिक्षा और विनिर्माण इत्यादि। इसका यह परिणाम हुआ कि सार्वजनिक क्षेत्र को भी प्रतिस्पर्धात्मक नीतियां अपनानी पड़ीं।

इन सब सतर्कतात्मक प्रणालियों को अपनाने के बावजूद निजीकरण ने समस्याएं भी पैदा की हैं जिनको अस्वीकार नही किया जा सकता।

26.4 उदारीकरण और लोकतंत्र

ऐसा माना जाता है कि पूंजीवाद लोकतंत्र को बढ़ावा देगा। जैसे जैसे बाजार अर्थव्यवस्था आगे बढ़ेगी लोकतंत्र की मांग भी आगे बढ़ेगी। लेकिन साम्यवादी चीन ने एक दलीय मजबूत शासन के साथ बाजार सुधार करते हुए अन्य देशों की तुलना में अपनी आर्थिक वृद्धि एवं राज्यनियंत्रित संस्थाओं के द्वारा कड़ी प्रतियोगिता के माहौल में विकास को जारी रखा है इसने लोकतंत्र पहले फिर आर्थिक सुधार प्रत्यय को विपरीत दिशा में मोड़ने का कार्य किया है। एक विपरीत दृष्टिकोण यह प्रस्तुत किया जाता है कि पहले आर्थिक सुधार के माध्यम से बाजार को शक्तिशाली बनाया जाए, फिर लोकतंत्र की स्थापना होगी। यह भी सच है कि जनता में अपने अधिकारों के प्रति चेतना होती है तथा जब वह देखते हैं कि शासक वर्ग उनकी बुनियादी ज़रुरतों को पूरा करने में अक्षम हैं तो अपने आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों के लिए वह क्रान्ति अथवा आन्दोलन की राह पर चलने लगते हैं।

फिर भी यह देखा गया है कि 90 के दशक के बाद से लगातार बाजार की शक्तियों एवं जनतांत्रिक मांगों में टकराव होता रहा है। एक ओर उदारीकरण इस बात की नसीहत करता है कि जनता को अपनी समस्याओं को आर्थिक तरीके से हल करना चाहिए। हर बार उन्हें राज्य की ओर नहीं देखना चाहिए। जैसा कि वह कल्याणकारी राज्य प्रत्यय के समय किया करते थे। लेकिन प्रश्न यह है कि राज्य के प्राकृतिक संसाधनों पर कुछ एक वर्गों का प्रभुत्व नहीं होना चाहिए बल्कि

राज्य को इसमें हस्तक्षेप करते हुए न्यायपूर्ण पुनर्वितरण की व्यवस्था करनी चाहिए और इस सम्बन्ध में लोकतंत्र के तरीकों को व्यवस्था पर दबाव बनाने एवं अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए अपनाया जाता है।

उदारीकरण के दौर में बाजार की भूमिका बढ़ी है तथा राज्य की विश्वसनीयता में कमी आयी है। बलदेव राज नायर के मतानुसार भारत में पहली बार उदारीकरण के अर्थशास्त्र तथा सशक्तिकरण की राजनीति विपरीत दिशाओं में जारहे हैं। लोगों के पास राजनीतिक अधिकार हैं परन्तु वे बाजार में भागीदारी नही कर सकते हैं क्योंकि उनके पास हकदारियों एवं क्षमताओं का अभाव है। विभिन्न हितों के बीच मध्यस्तथा करने अथवा मेल मिलाप कराने के लिए राज्य का कोई प्रयास नही है। ऐसी स्थिति में जहां राज्य कोई प्रभावी एवं मध्यवर्ती भूमिका नही निभासकता है, उनका सुझाव है कि सभ्य समाज हस्तक्षेप कर सकता है।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मानना है कि उदारीकरण की एक आवश्यकता के रुप में राज्य 'विराजनीतिकरण की राजनीति' (Politics of Depoliticization) कर रहा है। इसका उदाहरण मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, मध्य अफ्रीका एवं लातीनी अमेरिका में देखा जा सकता है।

दो दशकों से अधिक समय गुजरने के बाद अब यह नही कहा जासकता कि उदारीकरण एवं लोकतंत्र परस्पर विरोधी दिशा में जारहे हैं। विश्व व्यापी प्रभावों, मीडिया की सतर्कता एवं राजनीतिक चेतना के बीच सामंजस्य बिठाने की कोशिश में है। बहर हाल संघर्ष एवं सामन्जस्य साथ साथ चल रहा है।

26.5 भारत में उदारीकरण

1991 में नवीन आर्थिक नीति के परिचय से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था नियंत्रणयुक्त, संरक्षणवादी एवं बन्द थी। 1991 में भारत को भुगतान अतिशेष की समस्या के साथ बड़े आर्थिक संकट से गुजरना पड़ा। भारत के पास आयात की अदायगी के लिए केवल 2 महीने के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा थी। अपने आर्थिक संकट से उबरने के लिए भारत के पास एक विकल्प था कि वह विशव बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से ऋण प्राप्त करे। इसके लिए भारत को बैंक आफ इन्गलैण्ड में 47 टन तथा यूनियन बैंक आफ स्विटजरलैण्ड में 20 टन सोना गिरवी रखना पड़ा। डा0 मनमोहन सिंह उस समय वित्तमंत्री थे। उन्होने प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव के साथ मिलकर दूरगामी आर्थिक सुधारों की नीति को आगे बढ़ाया। भारत को इन ऋणदात्री संस्थाओं के द्वारा दिया संरचनात्मक समायोजन प्रोग्राम (Structural Adjustment Programme) भी स्वीकार करना पड़ा। भारत सरकार ने आर्थिक संकट दूर करने एवं अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने के लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार किये। इसमें भारतीय मुद्रा का 20 प्रतिशत अवमूल्यन भी था। आयात संबन्धी नियम सरल किये गये। लाइसेन्स परमिट व्यवस्था को समाप्त किया गया तथा मोनापोलिस्टिक एन्ड रिस्ट्रक्टीव ट्रेड प्रैक्टिसेज़ (Monapolistic and Restrictive Trade Practices-MRTP) को समाप्त कर दिया गया। सार्वजनिक उपक्रमों और सेवाओं को अंशतः या पूर्णतः निजी क्षेत्रों या हाथों में सौंपने हेतु पहल किया गया। सम्पूर्ण विश्व में बिना रोक टोक के व्यक्तियों, वस्तुओं, सेवाओं, ज्ञान एवं तकनीक का स्वतंत्र प्रवाह हो सके इसके लिए सीमा शुल्क, तटीय शुल्क तथा अन्य प्रतिबन्धों को समाप्त किया गया। इन सब प्रक्रियाओं का उद्देश्य यह था कि इस से प्रतिस्पर्धात्मकता, उत्पादकता, कार्यकुशलता एवं गुणवत्ता में वृद्धि होगी। उदारीकरण ने तेजी के साथ भारत में निजी उद्योगों को बढ़ावा दिया है।

उदारीकरण से पहले 17 अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत थे जिन्हें बाद में निजी उद्योगों के लिए भी खोल दिया गया।

26.6 भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभाव

भारत में उदारीकरण तथा भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को शुरु हुए दो दशक से ज्यादा हो चुका है। शुरुआती दौर में राष्ट्रवादियों एवं मार्क्सवादियों द्वारा इसका तीव्र विरोध किया गया। पश्चिमी युरोप में स्वयं उदारवरदियों ने उदारीकरण का कड़ा विरोध किया था। इन विरोधों के बावजूद भारत में राज्य ने आर्थिक सुधारों के नाम पर कठोर निर्णय लिए और धीरे धीरे विभिन्न राजनीतिक दलों ने इसे सहर्ष न चाहते हुए भी स्वीकार कर लिया है।

कृषि

भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का कृषि क्षेत्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कृषि क्षेत्र का वृद्धि दर 1982–1992 के बीच 3.2 प्रतिशत से घटकर 1992–2001 के बीच की अवधि में 2.9 प्रतिशत हो गया। कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित खाद्य पदार्थों की मांग में विविधता बढ़ी है जिससे लोगों के रहन सहन का तरीका बदल है। इस से ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र के बीच आर्थिक असमानता बढ़ी है। उदारीकरण, भूमण्डलीकरण से भारत में क्षेत्रीय विषमता में भी वृद्धि हुई है।

सर्वप्रथम कृषि व्यापार में उदारीकरण प्रक्रिया का समावेश किया गया तथा यह कहा गया कि इस से किसानों को ज्यादा कीमत मिलेगी। घरेलू कीमत तथा अन्तर राष्ट्रीय कीमत में अन्तर कम होगा। निवेश बढ़ेगा, तकनीकी सुधार होगा। परिणाम स्वरुप कृषि क्षेत्र का विकास एवं विस्तार होगा। लेकिन अनुभव बताता है कि ऐसा नही हुआ बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में उतार चढ़ाव के कारण किसानों को और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा देखा गया कि कृषि उत्पादों में व्यवहारतः प्रतिस्पर्धा का अभाव पाया गया है जैसे कि अंकटाड (UNCTAD) के अध्ययन 1993 से पता चलता है कि लगभग आधा, दर्जन बहुराष्ट्रीय कम्पनियां चीनी के कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा 60 प्रतिशत, चावल में 70 प्रतिशत, गेहूं, काटन, मक्का में 85 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा था।

भारत में खाद्यान्न क्षेत्र में आत्मनिर्भता के बावजूद मात्रात्मक आयात प्रतिबन्ध हटाने से कृषि आयात 10 गुना बढ़गया है इसी तरह खाद्य तेलों पर आयात शुल्क खत्म कर देने भारत का तिलहन उद्योग संकट ग्रस्त होगया। कृषि आगतों के अनुदान को कम किया। इसके समर्थकों का मानना था कि इस से सरकार का बोझ कम होगा। राजकीय कोष में सुधार होगा। भारत में सब्सिडी का अधिकांश भाग खाद्यान्न, उर्वरक, चीनी, खाद्य तेलों के आयात पर हानि मद में किया जाता है। सब्सिडी कम करने से आवश्यक वस्तुओं के दाम बढ़ गए। किसानों तथा आम जनता को इसका कुप्रभाव झेलना पड़ा।

कृषि क्षेत्र में उन्नत बीज, उर्वरक, तकनीक, रसायनों के प्रयोग द्वारा वाणिज्यिक खेती पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है जिस से छोटे किसानों, जनजातियों को नुकसान पहुंच रहा है जबकि भारत का संविधान निर्बल वर्गों के लिए आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की बात करता है।

श्रम और रोज़गार पर प्रभाव

भारत सरकार के आर्थिक समीक्षा 2001–02 से मालूम होता है कि उदारीकरण भूमण्डलीकरण के कारण समग्र रोजगार की वृद्धि दर कम होगयी।

संगठित क्षेत्र सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दरों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र की रोजगार वृद्धि दर 1991 में 1.52 प्रतिशत सेघटकर 2000 में 0.68 प्रतिशत रह गयी। इसका चिंताजनक पहलू यह भी है कि वर्ष 1998 से लगातार सार्वजनिक क्षेत्र की रोजगार वृद्धिदर नकारात्मक बनी हुयी है। यद्यपि निजी क्षेत्र में रोजगार की वृद्धिदर सार्वजनिक क्षेत्र की तुलना में अधिक रही है लेकिन यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि निजी क्षेत्र की रोजगार वृद्धिदर वर्ष 1996 में 5.62 के उच्च स्तर पर पहुंचने के बाद आगे के वर्षों में घटती गयी है। सार्वजनिक क्षेत्र में जरुरत से अधिक आदमी हटाये गये हैं जिसने सार्वजनिक निवेश तथा भावी विकास व रोजगार को घटाया है।

शिक्षा व स्वास्थ्य

शिक्षा व स्वास्थ्य की उपेक्षा हुई है और लोगों को मंहगी निजी शिक्षा और स्वास्थ्य पर निर्भर होना पड़रहा है। रोज़गारवृद्धि का अभाव निजी क्षेत्र में आरक्षण हेतु मांगों को भी प्रेरित कर रहा है। इस समय एक प्रबल आवश्यक्ता सरकार के लिए यह है कि वह अच्छी शिक्षा मुहैया कराए। दुर्भाग्यवश जनशिक्षा का स्तर गिर रहा है और निजी शिक्षा की लागत बढ़ रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी अब मंहगी अग्रेजी माध्यम शिक्षा का प्रचलन हो रहा है। शिक्षा पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों का बजट घटा है। सबसे अधिक कुप्रभावित उच्चतर शिक्षा का क्षेत्र रहा है।

क्षेत्रीय असंतुलन

भूमण्डलीकरण के कारण 'क्षेत्रवाद' और तद्जनित समस्याएं भी सामने आरही हैं। भारत के विकसित राज्य जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र आदि में रोजगार एवं बेहतर जीवन स्तर की सम्भावनाएं बढ़ी है। फलतः पिछड़े राज्यों से मजदूर एवं युवा वर्ग विकसित राज्यों में जाकर रोजगार प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु विकसित राज्यों के स्थानीय निवासियों को लगता है कि उनके राज्य में रोजगार के नए उत्पन्न अवसरों को अन्य राज्य के लोग आकर हड़प रहे हैं। इस सोच से तनाव एवं हिन्सा जन्म लेती है। महाराष्ट्र से उत्तर भारतियों को निकालने का आन्दोलन तथा असम में बिहारी मजदूरो की हत्यायें इसी सोच का परिणाम हैं।

भारत में 138 औद्योगिक गुच्छों (Industrial Clusters) में से केवल सात भारत के पांच गरीब राज्यों में स्थित हैं और 71 भारत के 4 सम्पन्नतम राज्यों में स्थित हैं। गरीब राज्यों की जनसंख्या अधिक है और इन राज्यों के सभी लोगों को स्थानीय स्तर पर रोजगार नही मिल पाता है। फलतः यह लोग अन्य विकसित राज्यों की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार विकसित राज्यों पर अप्रवासियों का दबाव बढ़जाता है।

अभी तक हमने भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के उन प्रभावों का जिक्र किया है जो नकारात्मक श्रेणी में आते हैं। इस से इन्कार नही किया जासकता कि उदारीकरण से भारत की अर्थव्यवस्था का भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ हो गया है। आज भूमण्डलीकरण पूरे विश्व का यथार्थ है। भारत में समाज और राज्य इस यर्थाथ से आंखें मूंदकर नही रह सकता। हमें इसका सकारात्मक प्रयोग करना होगा एवं इस से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करना होगा।

आज भूमण्डलीकरण के कारण भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था 'अर्थ' को सर्वोच्च प्राथमिकता दे रही है इससे हमारे प्राचीन जीवन मूल्य और हमारी संवैधानिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण प्रतिमान (समाजवाद, व्यक्ति की गरिमा, सामाजिक–आर्थिक न्याय, लोककल्याणकारी राज्य आदि) प्राथमिकता खोते जा रहे

हैं। ऐसे में राज्य का यह कर्तव्य बनता है कि 'राज्य की न्यूनतम भूमिका' न निभाकर दृढ़ता से नई भूमिका निर्धारित करे जिससे कि यह अपनी सम्प्रभुता, संघात्मक व्यवस्था, सामाजिक व आर्थिक संरचना और नागरिकों की सुरक्षा तथा विधि का शासन लागू कर अपनी उपयोगिता प्रमाणित करे।

भारत जैसे विकासशील देश में राज्य की सक्रीय भूमिका इस लिए भी आवश्यक है क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी, बेरोज़गारी, आवास, पेय जल, प्रति व्यक्ति आय, जीवन प्रत्याशा के आधार पर बनने वाले मानव विकास सचकांक में भारत की स्थिति अब भी बहुत पीछे है जो इस बात का प्रमाण है कि राज्य को इस दिशा में प्रभावी ढंग से सक्रीय होना है।

26.7 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हम ने अपने समय की महत्वपूर्ण घटना जिस से विश्व का कोई देश या समाज बच नही सका का अध्ययन किया। इसे हम LPG (Liberalisation' Privatization and Globalisation) के नाम से जानते हैं अर्थात उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण। इस घटनासमूह ने हमारी प्रचलित अवधारणाओं में परिवर्तन किया है। राज्य बनाम बाज़ार अर्थात राज्य के स्थान पर बाज़ार को प्राथमिकता देने की वकालत की गयी है। इसमें से हर एक अवधारणा का हमने अध्ययन किया तथा यह समझने का प्रयास किया कि विभिन्न समाजों में और खासकर भारत में इस पर क्या प्रतिक्रिया हुयी या होरही है। राज्य के कार्यक्षेत्र का आकार एवं उसकी भूमिका को कम करने की बात कही जाती है। लेएिकन विश्लेषण से पता चलता है कि यह स्वयं राज्य ही है जिसने अपने आकार को सिकोड़ने की बात भी चलायी है क्यों कि खुद राज्य अपने कार्यों के अतिरिक्त बोझ से निजात का रास्ता ढूंढ रहा था जो उसे उदारीकरण की प्रक्रिया में मिल गया। दसरे शब्दों में राज्य जहां विकास के लिए सुविधा प्रदानकर्ता (Facilitator for Development) है वहीं परिवर्तन का एक सक्रीय अभिकर्ता (Active Agent for Change) भी है। जहां एक ओर राज्य की सम्प्रभुता में ह्रास की बात स्वीकार की जाती है वहीं हम देखते हैं कि राज्य तेजी से बाह्य एवं आन्तरिक वास्तविक एवं काल्पनिक असुरक्षा के नाम पर सुरक्षा राज्य (Security State) में बदल रहा है। आतंकवाद एवं आन्तरिक विशमताओं से जनित हिंसक घटनााओं ने फिर से राज्य को शक्तिशाली बनने में मदद कर दी है जिस से उदारीकरण की प्रकिया के फलस्वरुप राजनीतिक क्षेत्र में पायी जाने वाली स्वतंत्रता, मानवाधिकार तथा दुर्बल वर्गों के कल्याण कार्यक्रम प्रभावित हुए हैं वहीं दूसरी ओर आज भी विकसित एवं शक्तिशाली राज्य इन्ही उपकरणों का प्रयोग करके अपना आर्थिक प्रभुत्व बनाए रखना चाहते हैं।

इस प्रकार राज्य की भूमिका में गिरावट नाममात्र के लिए है। वस्तुतः पूंजी ने राज्य के माध्यम से ही अपने को शक्तिशाली बनाया है।

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- Joseph, Stiglitz (2002), "Globalisation and its Discontents", WW Nortan and Company, New York.
- Nayar, Baldev Raj (2009), The Myth of Shrinking State# Globalisation and the State in India, Oxford University Press, New Delhi.
- कुमार, अरुण (2009) ''उदारीकरण, भूमण्डलीकरण एवं दलित'' रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।

- काबरा, कमल नयन (2005) ''भूमण्डलीकरण–विचार, नीतियां और विकल्प'', प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
- सिंहा, सच्चिदानन्द, (2007) '' भूमण्डलीकरण की चुनौतियॉ'' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- मिश्रा, जयकुमार (2007) ''वैश्विकरण का संविधान, प्रशासन और राजनीति पर प्रभाव'', *लोकतंत्र समीक्षा*, खण्ड 40, अंक 1–2, संवैधानिक और संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली।
- पाण्डेय, रविप्रकाश (2005) '' वैश्विकरण एवं समाज'' शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।

26.9 सम्बन्धित प्रश्न

लघु–उत्तरीय प्रश्न

(vii) उदारीकरण से आप क्या समझते हैं ?

(viii) भूमण्डलीकरण के मुख्य लक्षण बताइये।

(ix) निजीकरण पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(vii) भारत में उदारीकरण पर एक निबन्ध लिखिए।

(viii) विकासशील देशों पर भूमण्डलीकरण के प्रभावों का विवेचन कीजिए।

(ix) भारतीय निजीकरण प्रणाली के गुण एवं दोश बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 उदारीकरण का उदयकाल माना जाता है

(अ) शीतयुद्ध की समाप्ति पर

(ब) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के बीच

(स) 1500–1600 ई0

(द) औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात

2 'पूंजीविनिवेश' सम्बन्धित है–

(अ) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में सरकारी पूंजी को बेचने से

(ब) नियंत्रणों को शिथिल करने से

(स) आर्थिक विकास से

(द) कठोर कानून बनाने से

3 भारत में उदारीकरण को तीव्र गति देने में किनका योगदान अधिक है ?

(अ) राजीव गांधी–साम पित्रोदा

(ब) नरसिम्हाराव–मनमोहन सिंह

(स) वी0 पी0 सिंह–देवीलाल

(द) अटल बिहारी वाजपेयी–यशवंत सिंहा

26.10 प्रश्नोत्तर

1 (अ)

2 (अ)

3 (ब)